

मानसामृत

(त्रैमासिक शोध पत्रिका)

प्रधान संरक्षक

अनन्त श्री विभूषित स्वामी करपात्रीजी महाराज
आचार्यश्री पं० विश्वनाथप्रसादजी मिश्र

संरक्षक

श्री रतनलालजी सुरेका
(संस्थापक, श्रीसत्यनारायण तुलसी मानस मन्दिर, वाराणसी)
श्री बाबूलालजी तोदी

संपादक

बटुकप्रसाद शर्मा शास्त्री

वर्ष १]

३१ जुलाई, सन् १९८१ ई०

[कलश २

विषयानुक्रम

	पृ०	सं०
१. देव सदा स्वार्थी	—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	१
२. (छाया) तुलसी और उनका कर्तृत्व	—डॉ० किशोरीलाल गप्त	८
३. रामरूप मान कि गोसाई की जबान है	—“प्रधान”	१६
४. मानस की भाषा कुछ समस्याएँ	—डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन	१७
५. रामचरितमानस : मुनि संहिता	—डॉ० विष्णुदत्त ‘राकेश’	३५
६. मानसकार की सजग कलात्मक दृष्टि	—डॉ० किशोरी लाल	४२
७. कविता है या गोसाई की	— “प्रधान”	४८
८. रामचरित मानस के प्रमुख वक्ता : याज्ञवल्क्य (व्यक्तित्व, कृतित्व और तत्त्व चिन्तन)	—डॉ० शारदाप्रसाद शर्मा	४९
९. रिपोर्ट : मानसामृत के प्रवेशाङ्क का विमोचन	—राजेशकुमार शर्मा	६५

संपादकीय

मानसामृत का द्वितीय कलश आपके हाथों में है। प्रथम कलश की भाँति ही यह कलश भी अनेकों विघ्नों से संघर्ष करता हुआ लगभग छः मास विलम्ब से प्रकाशित हो पाया है। यह तो सर्वविदित ही है कि इस प्रकार की पत्रिकाओं का प्रकाशन अपने आप में एक अत्यन्त कठिन कार्य है किन्तु तुलसी साहित्य के प्रेमियों, विद्वानों और मानस मर्मज्ञों के सहयोग से इस पत्रिका का प्रकाशन हम निरन्तर करते रहेंगे ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रथम वर्ष के तृतीय और चतुर्थ कलश के लिए सामग्री प्रायः पूर्ण है और ये दोनों अङ्क अत्यन्त शीघ्र सुधी पाठकों के समक्ष आ रहे हैं।

कतिपय कारणों से मुद्रण का स्तर इस अङ्क में जैसा अपेक्षित है वैसा नहीं रह पाया है, पाठक अशुद्धियों के लिए क्षमा करेंगे। अगले अङ्क से मुद्रण स्तरीय होगा।

आपके मूल्यवान् सुझाव पत्रिका के लिए अपेक्षित हैं।

धन्यवाद !

मकर संक्रान्ति

बटुकप्रसाद शर्मा शास्त्री

(१४ जनवरी १९८२ ई०)

मानसामृत ४०७

निवेदन

ग्राहकों से.....

मानसामृत के प्रतिवर्ष चार कलश क्रमशः अप्रैल, जुलाई, अक्टूबर तथा जनवरी माह की अन्तिम तिथियों को निकलेंगे । चतुर्थ कलश विशेषाङ्क होगा ।

मानसामृत के प्रत्येक साधारण कलशका मूल्य पाँच रुपये तथा चतुर्थ कलशका मूल्य दस रुपये होगा । वार्षिक मूल्य इक्कीस रुपये है ।

लेखकों से.....

पत्रिका के उद्देश्यों के अन्तर्गत सभी विषयों पर शोधपूर्ण लेख ही मानसामृत में प्रकाशित किये जायेंगे । कृपया पूर्व प्रकाशित लेख न भेजें ।

लेख कागज के एक ओर हाशिया छोड़कर सुस्पष्ट अक्षरों में लिखे होने चाहियें । लेख में उद्धृत सभी उद्धरणों का सन्दर्भ-निर्देश अपेक्षित है । अस्वीकृत रचनाएँ वापस नहीं भेजी जा सकेंगी ।

लेख, संपादक, 'मानसामृत', १०/१५, ब्रह्मनाल, वाराणसी - २२१००१ के पते पर भेजे जायँ ।

—संपादक

देव सदा स्वार्थी

—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र*

[जगत् के सभी प्राणी या जीव (पशु) देवताओं के उपभोग के लिये हैं, किन्तु यदि पशु परभूतत्व का बोध करके पशुपति बन जाता है तो वह देवताओं के उपभोग में नहीं आ पाता। इसलिये वे चाहते हैं कि प्राणी पशु ही बना रहे। इसी कारण देवता अपने स्वार्थवश प्राणियों को उनके स्वार्थ की ओर प्रवृत्त करते रहते हैं और अपने उपभोग के लिये उन्हें भी विषयोपभोगों की ओर लगाते रहते हैं।]

तुलसीदास ने देवताओं और देवताओं के स्वामी इन्द्र दोनों की रामचरित मानस में पर्याप्त कुत्सा की है। जो लोग तुलसीदास को सनातन धर्मी रुढ़ियों का अंधानुगामी कहते हैं उनकी दृष्टि पता नहीं इसकी ओर जाती है या नहीं। रामचरित मानस से कुछ यहाँ से कुछ वहाँ से नोचकर उनको रुढ़िवादी, प्रतिगामी आदि नाना-प्रकार की आधुनिक उपाधियाँ रोष पूर्वक दी जाती हैं, यह नहीं देखा जाता कि उनकी दिव्यदृष्टि मानवता की किस ऊँचाई पर स्थित है। जब कि कबीर-दास अपनी 'भौनी-भौनी चदरिया' बुनकर यह कहते हैं कि उस चादर को सुर-नर-मुनि सबने ओढ़ कर मैली कर दिया और मैंने उसे ज्यों का त्यों उतारकर रख दिया। तब उनकी इस उक्ति पर उन्हें क्रांतिकारी, प्रगतिशील आदि पुरोगामी उपाधियों से विभूषित करते हैं पर कोई यह नहीं सोचता कि अपने ढंग से ये भी क्रांतिकारी बातें कहते हैं पर वे किसी प्रकार से इस बात में निर्गुनियाँ संतों से पीछे नहीं हैं। हाँ, उनका कार्य विघटनात्मक नहीं था। वे इस बात में विश्वास नहीं करते थे कि केवल क्रांति कर देनी चाहिए उसके परिणाम स्वरूप प्रकृति आप से आप कोई नया स्वरूप ला देगी। विघटन के साथ वे संघटनात्मक दृष्टि भी रखकर चले हैं। उनका प्रयास केवल निषेधात्मक ही नहीं है विध्यात्मक भी है। यही कारण है कि उन्होंने सदा समप्रता में विचार किया है। निर्गुणिया धारा विघटनात्मक स्वरूप आरंभ से ही लेकर प्रवाहित हुई। उसने सगुण का खंडन किया और निर्गुण को ही सर्वस्व स्वीकार किया। भारतीय परम्परा कभी रुढ़िवादी नहीं रही है उसमें नवीन को ग्रहण कराना और अबांछित बातों को परित्यक्त करने की दृढ़ता सदा से रही है। तुलसीदास ने भी उसी परंपरा को ग्रहण करके समाज में इच्छित परिवर्तन लाने का उद्योग किया था। वे ऐसे देवता की कल्पना लेकर चले थे जो लोक मंगल करनेवाला हो, जो समाज में समयानुरूप सुधार करके उसे मंगलकारी प्राचीन के साथ श्रेयस्कर नवीन से जोड़ दे। यह सत्य है कि पुराना सारा का सारा साधु

* साम्प्रानिक आचार्य, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००५

नहीं होता और नवीन सारा का सारा असाधु नहीं होता दोनों में कितना साधु है उसी का ग्रहण संघटनात्मक वृत्ति का लक्ष्य हुआ करता है ।

सगुण का निषेध भारतीय परंपरा ने कभी नहीं किया परिस्थिति भेद से निर्गुण-सगुण दोनों का ग्रहण ईप्सित माना । परमात्मा और विश्वात्मा दोनों में एक ही प्रवाह मान्य रहा । सारा विश्व परमात्मा की इच्छा का ही उन्मीलन है किन्तु उन्मीलन के अनंतर उसकी दृष्टि तटस्थ नहीं रहती । अच्छे-बुरे की पहचान से युक्त रहती है । इसलिए उस इच्छा में श्रेय की भावना, लोक मंगल की चेतना निहित मानी गई है । इसीको लेकर यहाँ अवतारवाद की कल्पना की गई । इसके मूल में भारतीय आशावाद भी अंतर्हित है । जो सन्मार्ग पर चलते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं, जो केवल अपना स्वार्थ नहीं देखते, अपनेमें और दूसरों में एक ही प्रकार का चेतन प्रवाह मानते हैं, पर विशुद्ध स्वार्थियों द्वारा किए जाने वाले अत्याचार सहते हैं, यदि उनके अंतःकरण में यह आशा की किरण न हो कि उत्पीड़न का अंधकार हटेगा और रक्षा की कल्याणकारिणी किरणें छिटकेंगी तो फिर सन्मार्ग पर चलने का उनमें उत्साह ही कैसे रहेगा । विश्व की सत्ता के मूल में वे सत्य को अवस्थित मानकर चलते हैं इसीलिए उन्होंने संसार की सारी सत्ता, चेतना, और सुख-लिप्सा का उत्स उसी परमात्मा को माना है । उसकी विशालता के लिए यह माना कि उसका हृदय भी विशाल है, उसका ज्ञान भी विशाल है और उसका कर्म भी विशाल है । वह बड़े से बड़े पाप को क्षमा कर सकता है, वह बड़ी से बड़ी उत्तमन को सुतमन सकता है, वह बड़े से बड़े सुख या आनन्द का परिचय है । यह भी माना गया कि उसके अवतार की भी कोटियाँ हैं । छोटे से छोटे असंगत व्यापार को जगत में सुसंगत करने के लिए भी उसका प्राकट्य होता है और संसार भर के मंगल के लिए भी उसका सर्वकला-संपन्न अवतार हुआ करता है । जहाँ अत्याचार से पीड़ित कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा अपनी ओर निर्हेतुक सहायता का हाथ बढ़ते हुए देखता है वहाँ उसे भगवान् की कला के दर्शन हो जाते हैं । परमात्मा जागतिक माध्यम से ही व्यक्त होता है, वह विश्व के किसी व्यक्ति, किसी समूह, किसी वर्ग, किसी समाज, किसी प्रदेश या किसी देश के माध्यम से अव्यक्त से व्यक्त होता है । इसलिए इस दृष्टि से परार्थ या परमार्थ कायं करनेवाले उसी विश्वात्मा की प्रेरणा से सारे कार्य करते हैं । वह मूलतः तटस्थ है पर दूसरों के कल्याण से वह उदासीन नहीं है । उसकी तटस्थता का स्थूल अर्थ यह है कि उसमें किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं है । इसलिए सगुण भक्तों की दृष्टि में स्वार्थ सबसे निषिद्ध वस्तु है । उनकी घोषणा यही है कि—

परहित सरिस धर्म नहि भाई । परपीड़ा सम नहि अधमाई ॥

निर्णय सकल पुरान वेद कर । कहेउँ तात जानहि कोबिद्वन ॥

नर सरीर धरि जे परपीरा । करहिँ ते सहहिँ महा भवभीरा ॥

करहिँ मोहबस नर अघ नाना । स्वारथरत परलोक नसाना ॥

(मा० ७।४१।१-४)

स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ की दृष्टि से यदि मानव-वृत्ति का विभाजन किया जाय तो एक ऐसे लोग दिखाई देंगे जिनमें केवल स्वार्थ दिखाई देता है, वे यही चाहते हैं कि मेरे ही स्वार्थ की सिद्धि हो दूसरे की हानि भले ही हो जाय । सामाजिक दृष्टि से ये सबसे नीची श्रेणी के व्यक्ति हैं, प्रत्युत परंपरा की मान्यता के अनुसार ऐसों को वृत्ति की दृष्टि से पशुओं से भिन्न नहीं किया जा सकता । दूसरे प्रकार के व्यक्ति होते हैं जो अपने स्वार्थ की सिद्धि के साथ-साथ परार्थ की भी सिद्धि हो जाय तो उन्हें कोई बुराई नहीं दिखाई देती, पर इनके संबंध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इनके स्वार्थ की सिद्धि आवश्यक होती है, इनके स्वार्थ की सिद्धि हो तभी इन्हें परार्थ की सिद्धि मान्य है । तीसरे प्रकार के व्यक्ति वे हैं जो परार्थ की सिद्धि को प्रथम स्थान देते हैं, अपने स्वार्थ को गौण रखते हैं अर्थात् यह विवेक रखते हैं कि जिसको अनिवार्यता है वह अपने से भिन्न भी है तो उसे पहले अपने अर्थ की सिद्धि करने का अवसर मिल जाय । इससे भी ऊपर वे लोग होते हैं जो परार्थ को सर्वोपरि मानते हैं और जिनका परार्थ परमार्थ की सीमा में पहुँचा हुआ होता है । वे सबकी भलाई चाहते हैं भले ही उससे कुछ अपनी बुराई होती हो । इनसे भी ऊपर वे होते हैं जो केवल परमार्थ चाहते हैं, स्वार्थ से जिनका कोई संबंध नहीं जो जीवनयात्रा के लिए ही खाते-पीते, पहनते-ओढ़ते हैं, एक प्रकार से उनमें कोई स्वार्थ नहीं होता है, प्रत्युत यह कहा जा सकता है कि इनका स्वार्थ विस्वार्थ ही होता है । तुलसीदास की परिभाषा के अनुसार ये ही जन परमभक्त या परमसंत हैं । उनकी दृष्टि में रामचरित मानस में इसके आदर्श भरत हैं ।

वृत्तियों का विकास गुणों पर आश्रित माना गया है । तमोगुण नीची कोटि का माना जाता है और सत्त्वगुण सबसे ऊँची कोटि का । किसी में तमोगुण ही प्रधान होता है, शेष दोनों गुण दबे रहते हैं, उनका आविर्भाव एक प्रकार से अभाव सा ही रहता है । तमोगुण और रजोगुण मिलते हैं, लगभग समान रहते हैं पर सत्त्वगुण दबा रहता है । रजोगुण और सत्त्वगुण में रजोगुण प्रमुख होता है पर सत्त्वगुण भी उसमें गौण रूप से मिला होता है । तमोगुण अल्पभाव के कारण एक प्रकार से नहीं सा होता है । सत्त्वगुण और तमोगुण एक साथ रहते हुए भी उनमें रजोगुण प्रधान रहता है और तमोगुण एक प्रकार से गौण भी हो सकता है, तमोगुण का एक प्रकार से यहाँ भी अभाव ही होता है । सबसे ऊपर वह स्थिति आती है जहाँ केवल सत्त्वगुण होता है, रजोगुण और तमोगुण एक प्रकार से नहीं रह जाते । इसी सत्त्वोद्रेक के लिये भारतीय परम्परा सब कुछ निष्कावर करती आई है प्रत्युत यह कहा जा सकता है कि इसके सारे वाङ्मयों का यही लक्ष्य रहा है, इसके कारण जीवन में सामाजिकता, विश्वबंधुता और अन्ततोगत्वा स्वार्थ के लिए एकांत त्याग की स्थिति आ जाती है । इसी को साहित्यकारों ने 'सत्त्वोद्रेकात् चिन्मय' स्थिति कहा है । यही चिन्मयी साधना भारतीय परम्परा में मूलभूत है । जीवन में संतुलन के लिए इसकी अनिवार्यता है । पर अनेक प्रकार से भारत में जीवन की

द्वारा अधोगामी या स्वार्थोन्मुखी होती चली जा रही है। विरवात्मा ने मानव-सृष्टि का विकास जिस उद्देश्य से किया था वह उद्देश्य ही ओम्फल होता हुआ दिखाई देता है। 'आत्मा वा परे द्रष्टव्यः' का अर्थ अब केवल अपने को देखना अर्थात् स्वार्थ पर ध्यान रखना हो गया है। ऋषि की यह वाणी ऊर्ध्वमुखी थी, ऊपर ले जाने वाली थी और अब नीचे की ओर अर्थात् इन्द्रियों की ओर, विषयों की ओर, भोग की ओर वृत्ति बढ़ती जा रही है। भारतीय परम्परा ने भारत को कर्मभूमि ही माना है, भोगभूमि नहीं। कर्मभूमि को भोग भूमि में परिणत कर देने का क्या परिणाम हो रहा है या होगा इसका कथन या विवेचन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, केवल यही दिखाना लक्ष्य है कि स्व को विराट् करने से आत्मा को परमात्मरूप में बोध कर लेने में जो ऊँचाई है वह भोगोन्मुख या विषयोन्मुख होने में नहीं है। माहात्म्य विषयनिरपेक्ष होने का है विषय सापेक्षता में कोई पुरुषार्थ नहीं है अथवा अन्तिम पुरुषार्थ नहीं है, चरम पुरुषार्थ नहीं है। उसके लिए पौरुष दिखाने की आवश्यकता नहीं है। उसके संयमित करने की, उसे रोकने की, कम करने की अपेक्षा है। प्रवृत्ति तो प्रकृति का सहज उच्छलन है, प्रवृत्ति तो जीव मात्र में होती है, इसीलिये मनुस्मृति में कहा गया है—“प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।” प्रवृत्ति को उभारने की, उकसाने की अपेक्षा ही नहीं है, वह तो होती ही है, परमपुरुषार्थ तो निवृत्ति है, इसलिये यहाँ माहात्म्य निवृत्ति-साधना का माना गया था उस प्रवृत्ति का माहात्म्य माना गया जो निवृत्तिगर्भ है। भक्ति में निवृत्ति-गर्भ प्रवृत्ति की साधना होती है। अर्थात् जिन जागतिक प्रवृत्तियों को मनुष्य विषयों की ओर उन्मुख किये रहता है उन्हीं को परमपुरुष की ओर उन्मुख कर दिया जाता है, यही इसका चिन्मयीकरण है। इससे स्वार्थ हट जाता है और परार्थ से होते हुए इसकी परमार्थ में परिणति हो जाती है।

स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ की स्थिति में मानसिक धरातल पर क्या होता है यह विचारणीय है। आंतरिक स्थिति को पंचकोशों के माध्यम से स्पष्ट किया गया। इनमें जो तारतम्य है उसे यों समझना चाहिये—अन्न, प्राण, मन, ज्ञान और आनन्द ये पंचकोश क्रमशः कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा से संबद्ध हैं। मन की स्थिति मध्य में मानी गई है। मन ही प्रवृत्ति और निवृत्ति में प्रेरक होता है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः' कहा ही गया है। यह मन बुद्धि और आत्मा की ओर जा सकता है या ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय की ओर आ सकता है। अब यदि यह इन्द्रियों की ओर आए तो वह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के विषयों की ओर प्रवृत्त होगा और यदि वह बुद्धि और आत्मा की ओर जाये तो द्रव से दूर होकर विषयों से निवृत्त होता है। जिसका मन कर्मेन्द्रिय जीव की ओर आ जाएगा, वह चटोरा हो जायगा, जो वस्तु अच्छी लगेगी, हानिप्रद होने पर भी उसे खाने की ओर प्रवृत्त होगा। उसे प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के मूठे-सच्चे बहाने बनाता फिरेगा। इस प्रकार उसकी भूख की वृत्ति सर्वाधिक

प्रचण्ड हो जायगी। कर्मेन्द्रियाँ केवल कर्म भी कर सकती हैं और उनमें लोभलिप्सा या विषय की ओर अधिक प्रवृत्ति होने के कारण भोगवृत्ति भी बढ़ जाती है। विषयों की प्राप्ति होने से, निरन्तर होती रहने से, जो इन्द्रियाँ अपने कर्तव्य-कर्म करने के लिए होती हैं जिनका नियमन अंतरिन्द्रिय से होता है वे स्वयं नियामक हो जाती हैं अर्थात् इन्द्रियाँ जो चाहती हैं मन और बुद्धि को वही करना पड़ता है। इन इन्द्रियों के सम्बन्ध में यह मान्यता है कि इनके देवता भी हैं। कान का विषय शब्द है, देवता उसमें दिक् है। त्वचा का विषय स्पर्श है, देवता वायु है। नेत्र का विषय रूप है और देवता सूर्य हैं। जीभ का विषय रस या आस्वाद है और देवता वरुण हैं। नासिका का विषय गंध है और देवता अश्विनीकुमार हैं। वाणी का विषय बोलना है और देवता अग्नि हैं। पैर का विषय चलना है और देवता विष्णु हैं। हाथ का विषय पकड़ना है और देवता इन्द्र हैं। गुदा का विषय मलत्याग है और देवता यम हैं। उपस्थ का विषय मूत्रत्याग है और देवता प्रजापति हैं। इस बात को मानस में ज्ञानदीपक में संकेतित किया गया है—

इन्द्रियद्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुन बैठे फरियाना ॥

आवत देखहि विषय बयारी। ते हठि देहि कपाट उघारी ॥

(मा०७।११८।११-१२)

इससे यह स्पष्ट है कि इन इन्द्रियों के जो अभिष्टाता देवता हैं वे ही इन इन्द्रियों के नियामक हैं। विषयों की ओर प्रवृत्ति करने में उनका सबसे अधिक योग रहता है। मन के ऊपर जो बुद्धि है वही सदसद् का विवेक करने वाली है, किन्तु जन इन्द्रियाँ विषय की ओर विशेष उन्मुख हो जाती हैं। तब बुद्धि के द्वारा प्राप्त ज्ञान का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता वे ही छूटे बुद्धि का नियमन करने के लिए प्रचंड हो जाती हैं, उसे बरबस विवेक से हटा देती हैं। इसीलिये आगे इस बात को रूपक के द्वारा मानस में और स्पष्ट किया गया है—

इंद्रिह सुरह न ज्ञान सोहार्ई। विषय भोग पर प्रीति सदाई ॥

विषय समीर बुद्धिकृत भोरी। तेहि बिधि दीपको बार बहोरी ॥

(मा०७।११८।१५-१६)

इसमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इन्द्रियाँ स्वार्थ अर्थात् अपने विषय की ओर प्रवृत्त होती हैं, केवल कर्म या बोध से उनका संबंध नहीं रह जाता, वे भोग में प्रवृत्त हो जाती हैं। इसके लिए उत्तरदायी केवल इन्द्रियाँ ही नहीं हैं, उनके अधिष्ठाता देवता भी हैं। इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति 'इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गम्' की गई है। इन्द्रस् का अर्थ है अपना और लिंग का अर्थ है चित्र, 'स्व' की अभिव्यक्ति इन्हीं से होती है। 'इन्द्रियं इन्द्रलिङ्गम्' में इन्द्र शब्द भी पड़ा हुआ है जो अपनत्व का बोधक है। इन सभी देवताओं का नियामक वही 'स्व' या इंद्र है। 'स्व' की ओर जिसकी अविक प्रवृत्ति होगी वह स्वार्थी होगा और इन्द्रियों के देवताओं और उन देवताओं के

स्वामी इन्द्र से शासित रहेगा। इसीलिए देवताओं के साथ-साथ उनके स्वामी इन्द्र की भी मानस में निन्दा की गई है। कोई ऋषि-मुनि जब तपश्चर्या में लीन होता है तब इन्द्र अप्सराओं को तपश्चर्या से डिगाने के लिए भेजा करता है, ऐसा पौराणिक प्रवाद है। पुराणों में जो बातें प्रतीकों के द्वारा कही गई हैं उनका तत्त्व यही है कि कोई तपश्चर्या करनेवाला जब इन्द्रियों को उनके विषय से हटाता है तब वे इन्द्रियाँ बुभुक्षित होकर नाना प्रकार के पापों में प्रवृत्ति होने के लिए प्रस्तुत रहती हैं। जो इस संघर्ष में संभला रह जाता है वह तो पार लग जाता है किन्तु जो नहीं संभल पाता वह पातक कर बैठता है। पातक का अर्थ ही है गिरानेवाला, वह गिर जाता है, ऊपर जाते-जाते नीचे चला आता है। धार्मिक परम्परा में माना गया है कि जगत के सभी प्राणी देवताओं के उपयोग के लिए हैं। प्राणी या जीव को पशु कहा गया है। यदि पशु-पशुपति हो जाय, उसे परमतत्त्व का बोध हो जाय तो पशु देवताओं के उपभोग में नहीं आ पाता। इसलिए वे चाहते हैं कि प्राणी पशु बना रहे, उनका पालक बना रहे क्योंकि जीव या मनुष्यों का पालन जैसे पशुओं से होता है। वैसे ही इन देवताओं का पालन मनुष्यों से होता है इसलिए ये देवता मनुष्यों को अपने स्वार्थ के लिए उन्हें भी स्वाथ ही की ओर प्रवृत्त करते रहते हैं अपने उपभोग के लिए मनुष्यों को भी विषयभोग में प्रवृत्त रखते हैं। वे यही चाहते हैं कि इन्द्रियाँ विषय की ओर स्व-स्व भोगार्थ प्रवृत्त होती रहें। यह उनकी नित्य स्थिति है अर्थात् वे सदा यही चाहते हैं। यही कारण है कि ऊपर कहा गया कि देवता सदा स्वार्थी हैं। स्वार्थी व्यक्ति सदा परमार्थ का सहारा लेता है, अर्थात् उसकी ओट लेकर अपने स्वार्थ की सिद्धि करना चाहता है। परमार्थ किसी को ऊपर उठाने के लिए है, स्वाथ से छुड़ाने के लिए है, विषयों से सर्वात्मता हटाने के लिए है। पर वह दिखाने के रूप में स्वाथ का साधन बनकर आया करता है। जो जितना ही भोगलिप्स होता है, वह उतना ही दूसरों को दिखाने में रहता है कि मेरा स्वाथ से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्द्र शब्द का अर्थ भी 'इदि परमैश्वर्ये' है। अत्यधिक ऐश्वर्य भोग सामग्री जिसे चाहिए वही इन्द्र है। इसीलिए मानस में तुलसीदास ने अवसर-अवसर पर देवताओं को स्वार्थी कहा और दिखाया भी है और देवताओं के स्वामी इन्द्र के परमभोग लिप्सा में लिप्त रहने की ओर संकेत किया है और इसके लिए उनकी कुत्सा की है, जिसका विवरण नीचे दिया है—

रामभगतिमय भरतु निहारे । सुर स्वारथी हहरि हिय हारे ॥

सब कोठ रामपेममय पेखा । भये अलेख सोचबस लेखा ॥

रामु सनेह सकोच बस कह ससोच सुरराजु ।

रचहु प्रपंचहि पंच मिलि नाहि त भयेउ अकाजु ॥

सुरन्ह सुमिरि सारदा सराही । देवि देव सरनागत पाही ॥

फेरि भरत माति करि निज माया । पालु बिबुधकुल करि छलझाया ॥

बिबुधविनय मुनि देवि सयानी । बोली सुर स्वारथजड़ जानी ॥

मो सन कहहु भरतमति फेरु । लोचन सहस न सुम्न सुमेरु ॥
बिधि हरिहर माया बड़ि भारी । सोच न भरतमति सकइ निहारी ॥
सो मति मोहि कहत करु भोरी । चंदिनि कर कि चंडकर चोरी ॥
भरत हृदयँ सिय राम निबासू । तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू ॥
अस कहि सारद गइ बिधिलोका । विबुध बिकल निसि मानहुँ कोका ॥

सुर स्वारथी मलीन मन कीन्ह कुमन्त्र कुडाटु ॥
रचि प्रपंचु माया प्रबल भय भ्रम अरति उचाटु ॥
करि कुचालि सोचत सुरराज । भरतहाथ सबु काजु अकाजु ॥
(मा० २।२९३।७ - २।२९४।१)

देखि दुखारी दीन दुहुँ समाज नर नारि सब ।
मधवा महा मलीन मुए मारि मंगल चहत =

(मा० २।३००।१३-१४)
कपट कुचालि सीव सुरराज । पर अकाज प्रिय आपन काज ॥
काक समान पाकरिपुरीती । छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ॥
प्रथम कुमत करि कपटु सँकेला । सो उचाटु सब केँ सिर मेला ॥
सुरमायाँ सब लोग बिमोहे । रामप्रेम अतिसय न बिछोहे ॥
भय उचाट बस मन फिर नाही । छन बनरुचि छन सदन सोहाही ॥
दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी । सरित सिंधु संगम जन बारो ॥
दुचित कतहुँ परितोषुन लहही । एक एक सन मरमु न कहही ॥
लखि हियँ हँसि कह कृपानिधानू । सरिस स्थान मधवान जुवानू ॥
(मा० २।३०१।१-८)

भरत राम संबादु सुनि सकल सुमंगल मूल ।
सुर स्वारथी सराहि कुल बरषत सुरतर फूल ॥

(मा० २।३०७।६-१०)

मुनिगति देखि सुरेस डेराना । कामहि बोलि कीन्ह सनमाना ॥
सहित सहाय जाहु मम हेतू । चलेउ हरषि हिय जलचरकेतू ॥
सुनासीरमन महु असि त्रासा । चहत देवरिषि मम पुर बासा ॥
जे कामी लोलुप जग माही । कुटिल काक इव सबहिँ डेराही ॥
सूख हाड लै भाग सठ स्थान निरखि मृगराज ।
छीनि लेइ जनि जान जड़ तिमि सुरपतिहि न लाज ॥

(मा० १।३२५।५-१०)

(छाया) तुलसी और उनका कर्तृत्व

—डा० किशोरीलाल गुप्त

[गोस्वामी तुलसीदास की परम्परा से प्राप्त बारह रचनाओं के अतिरिक्त लगभग पचास ऐसी अन्य रचनाएँ मिलती हैं जिनके कवि का नाम 'तुलसी' प्रति-भाषित होता है। ये रचनाएँ गोस्वामी तुलसीदासके समकालीन और उत्तर-वर्ती तुलसी नाम वाले कवियों की हैं। प्रस्तुत शोध-निबन्ध में इन रचनाओं को चार विभिन्न 'तुलसी' नाम वाले कवियों द्वारा कृत निरूपित किया गया है तथा उनमें सर्वप्रमुख छाया तुलसी के काल, स्थान और उनकी रचनाओं का शोधपूर्ण निर्धारण कर उन्हें गोस्वामी तुलसीदास का समकालीन, काशी-निवासी और लगभग चौबीस विभिन्न रचनाओं का कर्ता सिद्ध किया गया है।]

(१)

मीरजापुरके प्रसिद्ध रामायणी रामगुलाम द्विवेदी गोस्वामी तुलसीदासकी शिष्य परंपरा में हैं। इनका निधन सं० १८८८ वि० (१८३१ ई०) में हुआ था। इन्होंने निम्नांकित कवित्तमें गोसाईजीकी रचनाओं की सूची दी है—

रामलला नहछू, त्यों विराग-संदीपनिहु,

बरवै बनाइ बिरमाई मति साई की।

पारवती जानकी के मंगल ललित गाइ

रम्य राम-आज्ञा रची कामधेनु नाई की।

दोहा औ कवित्त गीत बंध कृष्ण कथा कही.

रामायन बिनै माहिँ बात एक ठाई की।

जग में सोहानी, जगदीसहूँ के सनमानी,

संत सुखदानी बानी तुलसी गोसाई की ॥

इसमें निम्नांकित बारह ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है—

१- राम लला नहछू

२- वैराग्य संदीपिनी

३- बरवै (रामायण)

४- पारवती मंगल

५- जानकी मंगल

६- रामाज्ञा (प्रश्न = रामाशलाका = सगनावली)

७- दोहाबंध = दोहावली

८- कवित्त बंध = कवितावली

❀ सुधवै, वाराणसी ।

६- गीत बंध = गीतावली

१०-कृष्ण कथा = कृष्ण गीतावली

१ -रामायन = रामचरित मानस

१२-विनै = विनय पत्रिका

परम्परासे यही बारह ग्रंथ गोसाईं तुलसीदासजी के माने जाते हैं। हनुमान बाहुक स्वतंत्र ग्रंथ है, पर इसकी गणना लोग कवितावली के भीतर करते आए हैं। इसे अलग गिननेपर गोसाईं जी के ग्रंथों की संख्या १३ हो जाती है। परन्तु गोसाईं जी के नाम पर मिलने वाले ग्रंथों की संख्या १३ तक ही सीमित नहीं है। लगभग चालीस ग्रंथ और हैं जो तुलसी के कहे जाते हैं, पर विद्वान उन्हें प्रसिद्ध गोसाईं तुलसीदास-विरचित नहीं मानते। लोगों का सामान्य विश्वास है कि किसी तुलसी भक्तने गोसाईं तुलसीदास की छाप से रचना कर दी है और नाम-त्याग, यश-त्याग का आदर्श प्रस्तुत किया है। दूसरे की साहित्यिक कृतिको अपने नाम से छपवा लेने की प्रवृत्ति से जग वंचित नहीं है, साहित्यिक चोरियाँ भी होती ही रही हैं, फिर एक-दो नहीं चालीस-चालीस ग्रंथ किसी दूसरे के नाम से निःस्वार्थ भाव से रच देना और अपने यशःकाम की ओर से सर्वथा निर्लिप्त रहना मुझे समीचीन नहीं प्रतीत होता।

(२)

तुलसी नामके अनेक कवि हुए हैं। इनमेंसे निम्नांकितका अस्तित्व निर्विवाद है—

१- गोस्वामी तुलसीदास—रामचरितमानस के रचयिता सं० १५५४-१६८१,

२- तुलसीदास निरंजनी—गोस्वामीजीके समकालीन, निर्गुनिया संत कवि, राजस्थान के रहने वाले,

३- आचार्य तुलसी—रीतिकालीन आचार्य कवि; कवि-माता, रस-कल्लोल, रस-भूषण के रचयिता, सं० १७११-१२ वि०,

४- तुलसीदास निर्गुनिया संत—बुंदेलखंडी, बारहमासा के रचयिता,

५- तुलसी साहब—हाथरस वाले, घट-रामायन के रचयिता, अपने को पूर्व जन्म में तुलसी कहनेवाले-सं० १८२०-१९०० वि०,

६- तुलसीदत्त ओम्हा—जोधपुर वाले, भारतेन्दु के समकालीन, सं० १९२५ वि०। बालक अंबिकादत्त व्यासकी समस्यापूर्ति पर भारतेन्दु-दरबार में प्रसन्न होकर, पुरस्कार देनेवाले।

इन छहों तुलसीदासों की रचनाएँ स्पष्ट रूप से अलग हैं। फिर भी पचास के लगभग तुलसी-छापी रचनाएँ रह जाती हैं। मैंने बहुत विचार करके इन रचनाओं को चार तुलसीदासों की स्वीकार किया है।

१—छाया तुलसीदास—लगभग २४ रचनाएँ ।

२—लघु तुलसीदास—लगभग १६ रचनाएँ ।

३—ज्योतिषी तुलसीदास—३ रचनाएँ ।

४—ब्रजवासी तुलसीदास—५ रचनाएँ ।

इनमें छाया, ज्योतिषी, ब्रजवासी तुलसी तो निर्बिवादसे हैं। सबसे कमजोर केस लघु तुलसीदास का है। जिन तुलसी— १पी रचनाओंको मैं किसी पर नहीं थोप सका। इनके कर्तृके रूप में मैंने इन लघु तुलसी की काम-चलाऊ स्थापना कर दी है, जिसमें भविष्य में संशोधन हो सकता है।

(३)

गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर जितने अन्य तुलसी हुए हैं, उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण तुलसी वह हैं, जिन्हें मैंने छाया तुलसी कहा है। यह तुलसी गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे। इन्होंने सं० १६३१ में ज्ञान-दीपिका, १६३५ में विजयदोहावली एवम् १६४२ में सतसई (तुलसी सतसई या राम सतसई) की रचना की थी। यह समय गोसाई तुलसीदास के जीवन काल के अन्तर्गत आता है। 'ज्ञानदीपिका' ज्ञान और भक्ति का अच्छा ग्रन्थ है। इसकी रचना गोस्वामी तुलसीदास की सुप्रसिद्ध रचना 'रामचरित मानस' की रचना (चैत्र राम-नवमी १६३१—अगहन सुदी ५ सं० १६३१) के पहले हो चुकी थी। मानस की रचना के पश्चात् ही गोस्वामी तुलसीदास परम प्रख्यात हुए। इसकी रचना के पहले वे सामान्य साधुसंत मात्र थे, उत्तने सम्मान्य नहीं हुए थे, जितने मानस की रचना के पश्चात् हुए। इसलिये 'ज्ञान दीपिका' की रचना गोस्वामी तुलसीदास के प्रभाव क्षेत्र के बाहर रहकर हुई है। ज्ञान-दीपिका के कर्ता तुलसी की उत्तरकालीन समस्त रचनाएँ गोस्वामी जी की छाया में विरचित हैं। यह कवि तुलसी की समस्त रचनाओं को अपनी बपौती समझने लगता है और उत्तराधिकारी के समान उनका मनमाना उपयोग करने लगता है। योग्य उत्तराधिकारी के समान पिता की अर्जित संपत्ति को बढ़ाने का भी सम्प्रयास करता है और बढ़ाता भी है। इसलिये मैंने इसे 'छाया' विशेषण से युक्त कर दिया है।

छाया तुलसी गोस्वामी तुलसीदास का समकालीन ही नहीं था, सम-स्थानीय भी था। यह भी काशी में ही गो० तुलसीदास के निवास-स्थान अस्सीघाट के पास प्रायः एक सौ मीटर की ही दूरी पर, लोलार्क कुंड पर, लोलार्क कुंड और गंगा के मध्य ही रहता था।

रवि-चंचल एक ब्रह्म-द्रव बीच, सु-वास बिचारि ।

'तुलसिदास' आसन करे, अवनि सुता उर धारि ।

(सतसई २६४)

रवि-चंचल = लोलार्क । ब्रह्म-द्रव = गंगा ।

कवि काशी-भक्त था। काशी की प्रशंसा में इसने तीन दोहे कहे हैं—

छमा-बिमल-बारानसी, सुर-अपगा सम भक्ति ।
 ग्यान-विसेसर अति विसद, लसत दया सह सक्ति ॥
 बसत छमा गृह जासु मन, बारानसी न दूरि ।
 विरसति सुरसरि-भगति जहँ, 'तुलसी' नय-क्रिय भूरि ॥
 सित कासी, मगहर अस्ति, लोभ मोह मद कोम ।
 हानि-लाभ 'तुलसी' समुक्ति, बास करहु बसु जाम ॥

(सतसई ४०५-७)

सतसई के इन दोहों से कवि का काशी से लगाव स्पष्ट है ।

डा० माताप्रसाद गुप्त अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'तुलसीदास' में लोकार्क स्थित 'तुलसीदास मठ' का उल्लेख करते हैं, जहाँ सं० १७९७ में वैसाख सुदी पूर्णिमा को किसी जयकृष्णदास ने 'न्याय-सिद्धान्त, मंजरी' की प्रतिलिपि की थी । उक्त प्रतिलिपि 'नव इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन' में है । उसकी पुष्पिका है—

"सं० १७९७ वैसाख सुदी पूर्णिमा लिखितम् लोकार्क तुलसीदास मठे

जयकृष्णदास शुभम्" ।

इस तुलसीदास मठ का सं० १८३२ के पश्चात् का कोई अभिलेख नहीं मिलता । इसी वर्ष २१ रमजान, सन् ११८३ फसली सं १८३२ वि० की लिखी काशीनरेश चेतसिंह की एक सनद है जिसमें इस मठ के महंत गोसाईं तुलाराम को सदावर्त के लिये बाहर से आने वाले माल पर चुंगी की छूट दी गई है ।

कार्तिक सुदी ७सं० १८४८ का लिखा एक कृष्णार्पण है जिसमें शिवरतन सीध ने मौजे लहरपुरा अपने तालुके लोहता में पन्द्रह बिगहा उपजाऊ खेत अस्थान श्री गोसाईं तुलसीदास के महन्त गोसाईं पीतांबरदास वैष्णव के नाम लिख दिया है ।

डा० माताप्रसाद गुप्त का खयाल है कि सं० १८४८ तक इस स्थान का नाम तुलसीदास मठ से बदलकर 'स्थान तुलसीदासजी' हो गया था । मुझे ऐसा नहीं लगता । 'तुलसीदास मठ' लोकार्क पर था । यह छाया तुलसी से सम्बन्धित है । इसी में जयकृष्णदास ने सं० १७९७ में 'भक्त सिद्धान्तमञ्जरी' की प्रतिलिपि की थी । और इसीके महंत गोसाईं तुलाराम थे जिनकी चुंगी को माफी के लिये महाराज चेतसिंह ने सं० १८३२ में छूट दी थी ।

सं० १८४८ में शिवरतन सिंह ने अस्थान तुलसीदास के महंत गोसाईं पीतांबर दास वैष्णव के लिए जो पन्द्रह बीघे का कृष्णार्पण लिखा था । वह 'अस्थान तुलसीदास' अस्सीघाट पर है और प्रसिद्ध गोसाईं तुलसीदास से सम्बन्धित है । यहाँ मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि मैं डा० माताप्रसाद गुप्त के इस मत से कि गोसाईं तुलसीदास किसी मठ के महंत थे, इसीलिए वे गोसाईं कहे जाते थे । पूर्णतया असहमत हूँ । अपनी इसी मान्यता को वे लोकार्क कुंड स्थित 'तुलसीदास मठ' के आधार पर पुष्ट करना चाहते हैं । तुलसीदास जी दीक्षा गुरु भी थे । इसी नाते वे गोसाईं कहे जाते हैं, मठ के महंत होने के नाते नहीं ।

डा० माता प्रसाद गुप्त ने 'तुलसीदास मठ' और 'स्थान तुलसीदास' को भ्रमवश एक में मिला देने की गलती की है। वस्तुतः वे दो हैं। - छाया तुलसी के प्रकाश में अब 'तुलसीदास मठ' के सम्बन्ध में खोज की जानी चाहिये।

गोस्वामी तुलसीदास राम-भक्त थे। राम के जन्म दिन पर उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'रामचरित मानस' की रचना प्रारंभ की थी और राम की विवाह-तिथि को उन्होंने उसे पूरा किया था। छाया तुलसी भी राम भक्त थे, पर इनकी श्रद्धा-भक्ति बाप राम की अपेक्षा माता सीता पर कुछ अधिक थी। इसीलिए उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ सतसई की रचना सीता की जन्म तिथि वैशाख सुदी ६मी को सं० १६४२ में प्रारम्भ की थी।

अपने निवास स्थान सूचक दोहे में भी उन्होंने स्पष्ट लिखा है -

अवनि-सुता उर धारि।

गोसाईं तुलसीदास के ही समान छाया तुलसी भी हनुमान के पूरे भक्त थे। सुप्रसिद्ध हनुमान चालीसा इन्हीं की रचना है। गोसाईं जी की बाहु में पीड़ा हुई थी, तब उन्होंने हनुमान बाहुक की रचना की थी। जहाँगीर की कैद में जब उन्हें संकट पड़ा, उन्होंने हनुमान की ही गुहार लगाई। इसी प्रकार छाया तुलसी पर भी कोई संकट आया जान पड़ता है। हनुमान संबंधी अपनी प्रायः प्रत्येक रचना में उन्होंने हनुमान को संकट टालने के लिए मनाया है—

कौन सो संकट मोर गरीब को जो तुम पै नहिँ जात है टारो।

छाया तुलसी किस जाति के थे, अभी तक इस संबंध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिले हैं। महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी ने 'तुलसी-सुधाकर' की भूमिका में 'सतसई' के कर्ता के कायस्थ होने की संभावना व्यक्त की है—

“मुसलमानों के समय में प्रायः कायस्थ लोग फारसी के पंडित होते थे, सो जिस तुलसी की बनाई यह सतसई है, उसने ३९२-३९३ दोहों में फारसी के एन गैन की कल्पना की है। कायस्थ के बिना ऐसी कल्पना उस समय के साधुओं की बुद्धि से निकलना मेरी समझ में असम्भव है।

इसी प्रकार कुछ गणित जाननेवाले कायस्थों के ऐसा इसके १३५-३८ दोहों में कुछ गणित संबंधी कल्पना भी है। इसीलिए विश्वास होता है कि सतसईकार तुलसी कायस्थ रहे हों, तो कोई आश्चर्य नहीं।”

—तुलसी सुधाकर पृष्ठ १४

कोई भी विद्वान सुधाकर जी से इस संबंध में सहमत नहीं है। सतसईकार तुलसी को कायस्थ बनाने वाली उनकी यह दलील पुष्ट नहीं है। हाँ, इसका कुप्रभाव यह अवश्य पड़ा है कि कुछ विद्वान हनुमान चालीसा को किसी कायस्थ कुलोद्भव की करतूत मानने लगे हैं। कुछ की दृष्टि से वे सीतापुर जिले के कायस्थ थे, कुछ की दृष्टि में बस्ती जिले के। मुझे तो इस कायस्थ की जड़ सुधाकर जी के ऊपर उद्धृत लेख में दिखाई देती है। निःसन्देह छाया तुलसी काशी में रहते थे, पर यहीं

के थे, ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सुधाकर जी तुलसी सतसई के कर्त्ता तुलसी के गाजीपुर निवासी होने की कल्पना करते हैं—

“२४२वें दोहे में मकरे का नाम कना लिखा है। गाजीपुर के प्रांत में सुना है कि अबतक बहुत स्थानों में मकरे को कना कहते हैं, इसलिए यह तुलसी सम्भव है कि गाजीपुर के रहने वाले हों।”

—तुलसी सुधाकर पृष्ठ १४

उक्त दोहा यह है—

कना समुष्मि क बस हरहु, अंत आदि-गुनसार।

स्त्रीकर तमहर बरनवर, तुलसी सरन उबार ॥ (सतसई २४२)

यह कूट है। टीकाकारों के अनुसार ‘कना’ का पर्याय ‘मकरा’ है। ‘मकरा’ में से क वर्ण को हर लो, निकाल लो, तो बचा —म रा। अंतिम वर्ण रा को आदि में कर दो, तो हुआ—राम। यही सार है, श्री-कर है, तम-हर है।

यह ‘कना’ और ‘मकरा’ सतसईकार को गाजीपुरी बनाने में समर्थ नहीं प्रतीत होते।

कुछ लोग राजपुर बुंदेल खंड को इस तुलसी का निवास-स्थान कहते हैं। पर मुझे तो यह राजपुर गोसाईं तुलसीदास की कर्मभूमि, प्रणय-भूमि संबंधी राजापुर का भूत ही प्रतीत होता है।

इस सम्बंध में अभी और खोज होने की आवश्यकता है।

(४)

छाया तुलसीके ग्रन्थोंके निर्धारणके लिए मैंने चार कसौटियां निर्धारित की हैं—

- १—रचना काल
- २—उलटा प्रमाण
- ३—पूरकता
- ४—हनुमान-भक्ति

(क) रचना काल

इस कसौटी से अभिप्राय यह है कि जो रचनाएँ तुलसी आप से युक्त हैं; पर प्रसिद्ध गोसाईं जी की रचना के रूप में स्वीकृत नहीं हैं, भले ही उनका रचना काल गोसाईं जी के जीवन काल में ही क्यों न पड़ता हो, वे रचनाएँ छाया तुलसी की ही हैं। ऐसी तोन रचनाएँ हैं—

१—ज्ञान-दीपिका—सं० १६३१ आषाढ़ सुदी २, गुरुवार—

संवत सोरह सै गए, इकतिस अधिक बिचार।

सुकल पच्छ आषाढ़ की, दुइज पुष्य गुरुवार ॥७॥

ता दिन उपजी दीपिका, पंच जोति परमान ।

धर्म ज्ञान अस ब्रह्म पुनि, प्रभु सद्य, विज्ञान ॥८॥

२—राम विजय दोहावली—सं० १६३५

सोरह सै पैतीस को, संवत है सुखरास ।

राम विजय दोहावली, बरनी तुलसीदास ॥१॥

३—(तुलसी) सतसई—सं० १६४२, वैशाख सुदी ९, गुरुवार

अहि-रसल^१, धन-धेनु^२, रस^३, गनपति-द्विज^४, गुरुवार ।

माधव सित सिय जनम तिथि, सतसैया अवतार ॥२॥

(ख) उलटा प्रमाण

कुछ ग्रन्थ तुलसी छाप से युक्त हैं, पर गोस्वामी तुलसीदास की रचना के रूप में विद्वानों द्वारा स्वीकृत नहीं हैं। यदि ऐसी रचनाओं में गोसाईं तुलसीदास के भी कुछ छंद हैं, पर उनके उद्धरण होने का संकेत नहीं किया गया है, तो ऐसे सभी ग्रन्थ निश्चित रूप से छाया-तुलसी के हैं, क्योंकि इन छंदों को छाया-तुलसी ने अपनी बपौती मानकर बिना भूत-लेखक का उल्लेख किए हुए उद्धृत कर लिया है— अपनी रचना के रूप में। सामान्यतया होता यह है कि छंदों में प्रयुक्त छाप या ओग के अनुसार हम ग्रंथकर्ता का निर्णय करते हैं, यह सीधा प्रमाण है। पर गोस्वामी तुलसीदास के छंदों के आधार पर यहाँ छाया-तुलसी के कर्तृत्व का सुनिश्चय किया जा रहा है। इसलिए इसे उलटा प्रमाण कहते हैं। इस कसौटी से निम्नांकित ग्रंथ छाया तुलसी की रचना सिद्ध होते हैं—

१—तुलसी सतसई—इसमें दोहावली के १६२ दोहे हैं।

२—बरवै रामायण—गोस्वामी तुलसीदास के बरवै रामायण में कुल ६९ बरवै हैं। छाया तुलसी के बरवै रामायण में कुल ४०५ छन्द हैं, जिनमें १४ बरवै गोसाईं तुलसीदास के बरवै रामायण से उद्धृत हैं।

३—कलिधर्मार्धम निरूपण—इसमें दोहावली के १० दोहे उद्धृत हैं।

४—हनुमान चालीसा—इसका पहला दोहा है—

श्री गुरु-चरन-सरोज-रज, निज मन मुकुर सुधार ।

बरनौ रघुवर बिमल जस, जो दायक फल चार ॥

यह राम चरित मानस अयोध्याकाण्ड का पहला दोहा है।

५—सर्वांग-पीर-मोचन हनुमान-बाहुक—इसमें गोसाईं तुलसीदास के हनुमान बाहुक के अनेक छन्द ले लिए गए हैं।

६—पदावली रामायण—इसमें गीतावली के भी पद हैं।

७—राम मंत्र मुक्तावली—इसमें रामचरितमानस की चौपाई या चौपाइयाँ भी हैं।

(ग) पूरकता

छाया तुलसी ने जहाँ भी देखा कि गोसाईं तुलसीदास ने छोड़ दिया है

उसे उसने पूरा करने का प्रयत्न किया । जिन शैलियों पर तुलसी ने रामकथा नहीं लिखी थी, उन शैलियों में भी छाया तुलसी ने रामकथाएँ लिखी हैं यथा—

- १-रामाश्वमेध या लवकुशकांड—रामचरित मानस का तथा कथित आठवाँकांड
- २-रामचरित मानस के अधिकांश श्लोक—ये गोस्वामी जी की दोहा चौपाई शैली में हैं, इनमें यत्र-तत्र तुलसी छाप हैं और उमा-शिव का प्रश्नोत्तर-संवाद-प्रणाली का इनमें भी यथा संभव निर्वाह हुआ है । काशिराज के सर-स्त्रतो-सदनमें सुरक्षित रामचरितमानस सं० १७०० का लिखा है । रामचरितमानस की इससे पुरानी संपूर्ण प्रति कोई और नहीं । इसमें भी श्लोक हैं ।

- ३-छन्दावली रामायण
- ४-छप्पय रामायण
- ५-कुंडलिया रामायण
- ६-दोहावली सतसई
- ७-रोला छन्द या रोला रामायण
- ८-भूलना छन्द या भूलना रामायण
- ९-कड़ग छन्द या कड़ग रामायण

(व) हनुमद्भक्ति

ख-कसौटी पर आने वाले दो ग्रंथ 'सर्वांग-पीर-मोचन हनुमान बाहुक' और 'हनुमान चालीसा' यह सिद्ध करते हैं कि तुलसी-छापवाले हनुमद्भक्तिवाले ग्रंथ भी छाया तुलसी के ही हैं । ये ग्रंथ हैं—

- १-सर्वांगपीर मोचन हनुमान बाहुक
- २-हनुमान चालीसा
- ३-बजरंग बाण
- ४-हनुमान पंचक
- ५-हनुमान अष्टक
- ६-संकटमोचनाष्टक
- ७-हनुमान साठिका

(५)

इस छानबीन से गो० तुलसीदास को क्या लाभ—यह प्रश्न सहज ही पूछा जा सकता है । क्या यह शोध गो० तुलसीदास संबंधी है, यह भो जिज्ञासा की जा सकती है । इसका उत्तर इतना ही है कि इससे गोस्वामी तुलसीदास को निश्चित रूप से लाभ है और यह शोध गोस्वामी तुलसीदास सम्बन्धी भी है । गोस्वामी तुलसीदास के ऊपर जो झड़-झंखाड़ उग आए थे, जो गर्दोंगबार छा गया था, वह इस शोध से उखड़ गये और सारी धूल उड़ गई । अब गोस्वामी जी पूर्णतया निर्मल हो गये ।

इस शोध का एक दूसरा पहलू भी है। अभी तक ये २३ ग्रंथ मारे-मारे फिर रहे थे, बिलबिला रहे थे, अनाथ थे, कोई इनका पूछनेवाला न था, पुरसाहात न था। इस शोध से ये अब स-नाथ हो गए हैं, एक खूँटे से बँध गए हैं, एक खूँटी पर लटका दिए गए हैं। अब इन पर पूर्ण रूप से समीक्षा कार्य हो सकता है। अभी तक इन ग्रंथों की बड़ी उपेक्षा हुई है। केवल सतसई और बरत्रै रामायण पर लोगों ने कुछ सोचा-विचारा है, कुछ लिखा-पढ़ा है, पर वह जितना भ्रामक एवं भ्रांत है इसे अब सुधी-शोधी देख सकते हैं। इस संबंध में मेरे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। जिसे हमने वेश्यापुत्र समझकर तिरस्करणीय एवम् अवहेलनीय समझ रखा था, शाप-युक्त हो जाने पर, अभिज्ञान हो जाने पर ये तो खासे भले राजकुमार निकल आये हैं और अब हमारे अद्भुत एवम् सम्मान के सुपात्र बन गये हैं। अब इन ग्रंथों पर अलग से भी शोध कार्य हो सकता है।

छायातुलसी की ग्रंथावली संपादित एवम् प्रकाशित करने की आवश्यकता है। जब तक उक्त ग्रंथावली प्रकाशित नहीं हो जाती, तब तक यह काव्य-मुधाकर छाया-ग्रस्त ही बना रहेगा।

गोस्वामी तुलसीदास विशाल बट वृक्ष थे। उनकी छाया में पनपने वाला यह छाया तुलसी उमर नहीं सका। इसने जो कुछ लिखा, सब गोस्वामी तुलसीदास को समर्पित-सा हो गया, सब उन्हीं का समझ लिया गया। इस कायका अस्तित्व ही अनस्तित्व में लीन हो गया। अब इसका उद्धार हो जाना चाहिए।

•

रामरूप मान की गोसाँई की जबान है

बिद्या को बितान है कि वेद को बिधान है कि

नीति को निधान है कि साख को प्रमान है ।

बिपत्तिबिधान है कि संपत्तिप्रदान है कि

कलि को कृसान है कि भाषत "प्रधान" हे ।

भक्तिखरिदान है कि मुक्ति को किसान है कि

धर्म को दुकान है कि जगत को त्रान है ।

सन्तन को प्रान है कि संकर को ध्यान है कि

रामरूप मान की गोसाँई की जबान है ॥

●

मानस की भाषा : कुछ समस्याएँ

—डा० देवेन्द्रकुमार जैन

[रामचरित मानस की भाषा अनेकों भाषाओं का मिश्रण है, इसीलिए उसके मानक स्वरूप का निर्धारण विद्वानों के लिए समस्या का विषय रहा है । प्रस्तुत निबन्ध में मानस की भाषा का सभी कोणों से अध्ययन कर उसके मानक स्वरूप के निर्धारण की दिशा निर्दिष्ट की गई है ।]

सांस्कृतिक चेतना का काव्य

“रामचरित मानस” राम की सगुण भक्ति का ही नहीं, अपितु भारत की मध्ययुगीन सांस्कृतिक चेतना का भी काव्य है । सांस्कृतिक अध्येताओं का कहना है कि यह चेतना, उस समय, नाना अवरोधों और परस्पर विरोधी तत्वों से उद्बलित थी । राजनैतिक और सामाजिक स्थितियों में हो रही उथल पुथल से भारत का आध्यात्मिक पक्ष लुब्ध और दिग्भ्रमित था । इसमें सन्देह नहीं कि किसी राष्ट्र की सामाजिक और राजनैतिक विचारधाराएँ, उसकी सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित होती हैं, वही राष्ट्र की मूलभूत शक्ति और क्षमता है । मानस के सृजन की मूल चेतना, यही सांस्कृतिक चेतना है । ‘मानस’ में प्रयुक्त शब्द केवल अवधी के नहीं हैं । वस्तुतः वे व्यापक और परंपरागत भाषा से आगत शब्द हैं ।

संस्कृत/प्राकृत

“मानस” की भाषा अवधी है, उसे काव्य भाषा के रूप में प्रयोग करने का श्रेय तुलसी को है । प्रश्न है कि अवधी के विकास का ऐतिहासिक और क्षेत्रीय स्रोत क्या है ? वह विशुद्ध लोक भाषा है या साहित्यिक भाषा ? इन दोनों के सम्बन्ध के विषय में पंडितों में विवाद है । संस्कृत, लम्बे समय तक, लोक और शास्त्र की अभिव्यक्ति का माध्यम रही । उसका यह एकाधिकार उस समय टूटता है, जब बुद्ध और महावीर पालि और प्राकृत में अपने धार्मिक प्रवचन देते हैं । ये दोनों भाषाएँ संस्कृत से कुछ भिन्न भाषाएँ थीं । वस्तुतः संस्कृत और प्राकृत एक ही भाषारूपी सिक्के के दो पहलू हैं । अतः यह कहना सही नहीं है कि संस्कृत ब्राह्मणों की भाषा

* हिन्दी विभाग, इन्दौर विश्वविद्यालय, इन्दौर ।

है और प्राकृत श्रमणों की। सिक्के के एक पहलू को पूरा सिक्का मान लेने पर जो अंतियाँ सम्भव हैं, वे संस्कृत-प्राकृत में किसी एक को सर्वथा पूर्ण भाषा मान लेने में हैं। संस्कृत के विषय में विशेष बात यह है कि वह परवर्ती भारतीय आर्य-भाषाओं के विकास को पोषण देती रही है। उसके बिना किसी सम्पूर्ण भारतीय आर्य-भाषा को कल्पना नहीं का जा सकती। गंगोत्री की तरह यह भारतीय आर्य-भाषा-प्रवाह के लिए मूल स्रोत का काम करती है। रचना प्रक्रिया के विचार से आर्य-भाषा का परवर्ती प्रवाह (अपभ्रंश) यद्यपि विच्छिन्न प्रवाह है, फिर भी उसमें सूक्ष्मतर अविच्छिन्नता विद्यमान है।

देशी और भाषा

भाषा के विषय में संस्कार सम्पन्नता या संस्कारहीनता का प्रश्न नहीं उठता। सृजन के क्षेत्र में यह प्रश्न और भी निरर्थक है। किसी समय संस्कृत कठोर मानी जाती थी और प्राकृत सुकुमार। बाद में कहा गया कि संस्कृत बहुजन को अच्छी नहीं लगती और प्राकृत रस का मर्म नहीं जानती। इसलिए देशी वचनों में काव्य की रचना की जानी चाहिए। संस्कृत को कूपजल और भाषा को बहता नीर कहने में कबीर का अभिप्राय यही था कि एक आधुनिक आर्य-भाषाओं का अक्षय स्रोत है, जबकि भाषाएँ उसका बहाव। यह सृजन करनेवालों की अपनी रुचि पर निर्भर है कि वे कूपजल में अवगाहन करें या बहते पानी में। तुलसीदास स्रोत और धारा, दोनों से मात्र परिचित ही नहीं थे, उनपर उनका पूर्ण अधिकार था। फिर भी वे संस्कृत के कुमाव (कुमाव) के बजाय भाषा की काली कामली पसन्द करते हैं, हालाँकि उसमें कुमाव के शब्दों का सीधा आप्रदण है। रीतिकालीन कवि कुलपति मिश्र का यह कथन—

“जिती देव बानी प्रगट है कविता की घात।
ते भाषा में होय तो सब समझें रस बात ॥”

संस्कृत के विरोध में नहीं है। उसका उद्देश्य यह बताना है कि संप्रेषणीयता का सहज माध्यम भाषा हो हो सकती है। अपभ्रंश कवि स्वयंभू ने रामकथारूपी नदी के रूपक में एक महत्त्वपूर्ण बात कही :

“सकय पायय पुलिणालंकिय
देशी भासा-उभय-तडुज्जल ।”

अर्थात् उनकी रामकथारूपी नदी संस्कृत प्राकृत के पुलिनों से अलंकृत है और देशी भाषा से समुज्जल है। तट से ही धारा का अवगाहन संभव है, यह निर्विवाद है। परन्तु तट संस्कृत प्राकृत के पुलिनों से बंधे हुए हैं, वे एकदम स्वतन्त्र या स्वयंभू

नहीं हैं। जिस तरह “पउमचरित” लिखते समय, अपभ्रंश स्वयंभू के लिए देशी थी, उसी प्रकार ‘रामचरित मानस’ लिखते समय अवधी तुलसी के लिए भाषा थी। भाषासे उनका अभिप्राय देशीसे है। स्वयम् उन्होंने अवधी का नाम नहीं लिया। अवधी उसे बाद में कहा गया।

भाषा भी संस्कृत भी

तुलसीका कहना है : “का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए सांच” इसका अर्थ है कि उनके सृजन का उद्देश्य “सच्चे प्रेम” को अभिव्यक्ति देना है, इसलिए आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने दोनों से काम लिया। प्रश्न है कि वह भाषा कौन सी है, जिसमें मानस लिखा गया है ?

कुछ विद्वानों के अनुसार अवधी का यह देशी जल उत्तरप्रदेश के लखीम पुर, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव, फतेहपुर, बहराइच, बाराबंकी, रायबरेली, गोंडा, फैजाबाद, सुलतानपुर, प्रतापगढ़, इलाहाबाद, जौनपुर और मिर्जापुर तक फैला हुआ है। कुछ विद्वान (मिश्रबंधु) मानस की भाषा में बेसवाड़ी और अवधी का मिश्रण मानते हैं। स्व० प्रियर्सन और डा० बाबूराम सक्सेना के अनुसार वह प्राचीन अवधी है। कुछ विद्वान उसमें अवधी और ब्रज का मिश्रण मानते हैं और कुछ पूर्वी और पश्चिमी अवधी का। यहां सबसे पहले मिश्रण को परिभाषित करना जरूरी है। प्रश्न है कि यह मिश्रण दो स्वतंत्र भाषाओं के सम्मिलन से संभव हुआ, या विकास के समान ऐतिहासिक स्रोत के कारण। भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के नाम पर इस समय, हिन्दी में बड़ी अराजकता है। लोगों को छूट है कि वे किसी भी शब्द को किसी भी भाषा का सिद्ध कर दें। जैसे, जन और कोपर शब्द गुजराती के अलावा कई प्रादेशिक भाषाओं में प्रयुक्त हैं जो क्रमशः जीर्ण और कूर्पर से विकसित हैं। परन्तु विद्वानों का कहना है कि ये शब्द तुलसी ने गुजराती से लिये। इसी प्रकार भिनुसारा, घायल, तिमुहानी आदि शब्द भोजपुरी में ही नहीं, दूसरी-दूसरी भाषाओं में भी मिलते हैं। अतः उन्हें भोजपुरी का मान लेना, उनकी व्यापकता को कम करना है। दार्शनिक सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से मानस का जितना अध्ययन किया गया है, उतना भाषिक दृष्टि से नहीं किया गया, जो कि सबसे पहले होना चाहिए था।

प्रामाणिक संस्करण

भाषा और शब्दों के अध्ययन के प्रसंग में मानस के प्रामाणिक संस्करणों की उपलब्धि मूलभूत आवश्यकता है। ‘मानस’ के इस समय तीन संस्करण उल्लेखनीय हैं—(१) एकेडेमी संस्करण—संपादक डा० माताप्रसाद गुप्त, (२) काशिराज संस्करण—संपादक आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (३) गीता प्रेस संस्करण। इनमें

पहले दो संस्करण यद्यपि प्रामाणिक हैं, लेकिन दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि दोनों में वर्तनी की दृष्टि से एकरूपता नहीं है। इतना ही नहीं, एक ही संस्करण में शब्दों की वर्तनी में अनेकरूपता है। इस सम्बन्ध में आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है “हिन्दी में अधुना वर्तनी पर जितना ध्यान दिया जाता है उतना कोई लेखक पहले कभी नहीं रखता था। अतः एकरूपता सम्पादन का प्रयास न करके प्राचीन हस्तलेखों के प्रति सम्मान-प्रदर्शन और वैज्ञानिक प्रणाली के पूर्ण अनुधावन की दृष्टि से एक ही शब्द की भिन्न वर्तनी ज्यों की त्यों गृहीत की गई है। कुछ भेद तो केवल उच्चारण से ही अभेद हो जाते हैं, ऐसा करने से साहित्य, धर्म और विज्ञान की समन्वित का लाभ तो है ही पर गृहीता को कोई हानि नहीं।” डा० गुप्त का कहना है “अक्षर विन्यास (वर्तनी) के विषय में एकरूपता लाने का व्यापक प्रयास नहीं किया गया, इसलिए तत्सम्बन्धी विषमता मिलेगी”। इस दृष्टि से आचार्य पं० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र ने पुराने पाठों को ज्यों का त्यों रखकर एक प्रकार से ठीक ही किया। इससे वैज्ञानिक सम्पादन के नाम पर होने वाली काट-छाँट से मानस की भाषा बच गई। उदाहरण के लिए डा० गुप्तने ‘मरम पाँछि जनु माहुर देई (१२।१६०।४) में पाँछि की जगह ‘पोंछि’ पाठ माना है, जबकि पाँछना और पोंछना दो अलग अलग क्रियाएँ हैं। मानस में पोंछना का भी प्रयोग है—‘आँसु पोंछि मृदुवचन उचारे (२।१६१।२)’। स्पष्ट है कि पाँछना और पोंछना दो अलग स्वतंत्र क्रियाएँ हैं। मर्म पोंछना और आँसू पोंछना दोनों में अन्तर है।

दोनों संस्करणों के पाठों में अन्तर है :

- काशिराज संस्करण
१. बंदौँ गुर पद पदुम परागा
 २. अमिअँ मूरिमय
 ३. बरनौँ रामचरित
 ४. सनेह निसौँ तेँ
 ५. दारिद-दवारि के
 ६. सहस बदन बरनै परदोषा
 ७. मिटै न मलिन सुभाव
 ८. कृपा अघाती
 ९. कासी मग सुरसरि क्रमनासा

य श्रुति को लेकर दोनों संस्करणों में विभिन्नता है :

खलगन सति भायेँ
दाहिनेहु धायेँ
एहि बिधि

- एकेडेमी संस्करण
- बंदउँ गुरु पद पदुम परागा
 - अमिअ मूरिमय
 - बरनउँ रामचरित
 - सनेह निसोँतेँ
 - दारिद दवारि के
 - सहसबदन बरनइँ परदोषा
 - मिटइ न मलिन सुभाव
 - कृपा अघाँती
 - कासी मग सुरसरि कविनासा

खलगन सति भाएँ
दाहिनेहु बाएँ
येहि बिधि

अपभ्रंश का ध्वनितंत्र

मानस की भाषा की वर्तनी और शब्दों की एकरूपता के लिए अपभ्रंश ध्वनि-तंत्र को आधार बनाया जा सकता है :

(१) अपभ्रंश में ऐ, औ वृद्धिस्वर नहीं हैं, उनके स्थान पर ए॥अइ, ओ॥अउ होते हैं, य श्रुति के कारण अइ और अउ को क्रमशः अय और अव कर देते हैं ।

(२) ऋ की जगह अ, इ, उ, ए, आ, री, रि विकल्प होते हैं—कृत्य॥कच्च, तृण॥तिण, पृष्ठ॥पुट्ठ, गृह॥गेह, ऋच्छ॥रीछ, ऋषभ॥रिसभ ।

(३) ह्रस्व ए और ओ स्वरों का प्रयोग है, वैदिक भाषा संस्कृत और हिन्दी को छोड़कर, शेष भाषाओं में ह्रस्व ए, ओ प्रयुक्त हैं ।

(४) एक स्वर का स्थान दूसरा स्वर ले लेता है—जैसे कृण॥किबिण, मनुते॥मुणइ, विहीन॥विहूण, क्रीडा॥खेडूडय, मुकुटा॥मउड, नूपुर॥नेउड ।

(५) संयुक्त व्यंजनों में निम्नलिखित विकार सम्भव हैं : धृति॥दिहि, दृष्टि॥दिट्ठी, कर्पर॥खपड, स्पर्श॥फंस, ज्योतिपी॥जोइसिउ, ज्योति॥जोति, व्यापार॥वावार, व्यवहार॥ववहार, प्रेम॥पेम्म, स्वर॥सर, द्वीप॥दीव, अत्यन्त॥अचंचंत, मिथ्यात्वा॥मिच्छत्त, अद्या॥अज्ज, जन्म॥जम्म, कर्म॥कम्म, वाक्य॥वक्य, काव्य॥कव्व, विप्लव॥विप्पव, पक्व॥पक्क, कल्य॥कल्ल, सर्व॥सव्व, पर्व॥पव्व, पर्या॥परण, अक्षर॥अक्खर, चण॥खण, नीयते॥नीयते, विज्ञा॥विज्झित्त, विज्ञिमा॥विज्झित्त, त्राण॥ताण, ज्ञाना॥णाण, जान ।

प्रातिपदिक

अपभ्रंश में प्रातिपदिक की प्रक्रिया सरल है । ऋ और व्यंजन उ, या आ से अंत होने वाले शब्दों को अकारांत कर देते हैं—आत्मन्॥अप्प, मातृ॥मायर, मनस्॥मन, स्वस्त्य॥सस, बाहु॥बाह, प्रतिमा॥पडिम । द्विवचन नहीं होता । संप्रदान के लिए स्वतंत्र विभक्ति नहीं है । कर्ता, कर्म और सम्बन्ध (प्रथमा, द्वितीया और षष्ठी, की विभक्तियों का लोप होता है । नाम रूपः में सामान्यतः निम्नलिखित विभक्तियाँ प्रयुक्त हैं :

कर्ता—उ, ओ, बहुवचन कुछ नहीं, कर्म में कर्ता के समान स्थिति है, करण में एक वचन में ए, एँ, इण, एण, बहुवचन में हिँ, अपादान में हे, हु, बहुवचन में हुँ सम्बन्ध में सु, हौ, स्सु, बहुवचन हुँ, अधिकरण में हिँ, बहुवचन में हुँ । नपुंसक और स्त्रीलिंग शब्दों की विभक्तियों में अधिक अन्तर नहीं है । तादृयर्थ (के लिए) में केहिँ, तेहिँ, रेहिँ और तणेणका प्रयोग होता है । सम्बन्ध में केर और तण का प्रयोग है, दोनों के पूर्व षष्ठी विभक्ति लगता है, जैसे तपुकेहिँ—उसके लिए, तसुकेरि

करण—उसकी कन्या । जिन कारकों में विभक्ति का लोप नहीं है, उनके बहुवचन में अनुस्वर का प्रयोग है जैसे देवहिँ, देवहुँ, देवहँ । इकारान्त पुल्लिङ्ग, गिरिहुँ, गिरिहँ, स्त्रीलिङ्ग मुद्धहिँ, मुद्धहुँ, मुद्धहि । हिन्दी के बहुवचन में अनुनासिक की प्रवृत्ति में यह प्रभाव देखा जा सकता है । एतद् (यह) के रूप एहो और एइ (कर्त्ता एकवचन) उल्लेखनीय हैं ।

परिमाणवाचक—जइसो, जेहू = जैसा । तइसो, तेहू = तैसा, वैसा । कइसो, केहू = कैसा । एरिसो = ऐसा । तुम्हारिस = तुम्हारे जैसा ।

रोतिवाचक—जेम, जिम, जिह, जिघ = जिस प्रकार । तेम, तिम, तिह, तिघ = उस प्रकार । कैम, किम, किह, किघ = किस प्रकार ।

स्थानवाचक—एत्थु, इत्थु = यहाँ । तेत्थु, तत्थु = वहाँ । केत्थु, कत्तु = कहाँ । जेत्थु, जत्तु = जहाँ । एत्तहे, तेत्तहे = यहाँ, वहाँ ।

समयवाचक—जाम, जामहिँ = जबतक । ताम, तामहिँ = तबतक ।

क्रियारूप—आख्यात : अपभ्रंश क्रिया सरल है, उसमें वर्तमान भविष्य और विधि के रूपों का प्रयोग है । सामान्य भूत में कृदंत क्रिया का प्रयोग है । क्रिया की विभक्तियाँ इस प्रकार हैं :

वर्तमान काल				भविष्यत् काल			
	एक वचन	बहुवचन		एकवचन	बहुवचन		
उ. पु.	मि, उँ,	हुँ, मु		समि, मुहिमि	सुस, हुँ		
म. पु.	हि, सि	हु, ह		सहि, ससि, हिसि	सहु, सहो		
अ. पु.	इ, एइ	हिँ, अंति		सइ, हइ	सहिँ, हिति ।		

आज्ञा में इ, उ, ए विभक्तियाँ आती हैं । करइ, करउ, करे । विधि में रूप हैं वजउ, वजउँ, वजहि, वजइ, वजहु, वजउ, वजँतु, वजहुँ । सामान्य भूत में कृदंत का प्रयोग होता है : लइउ, दिट्ठउ, कहियउ इत्यादि । वर्तमान काल का कृदंत—एंतु, रडंतउ भविष्यकाल—एव्वड । पूर्वकालिक क्रिया—इ, इड, इणि, अणि । एप्पि, एप्पिणु, एवि, एविणु ।

क्रियार्थक क्रिया—एवं, एण, अणहँ, अणहिँ, एप्पि, एप्पिणु एवि, एविणु । भाव वाचक संज्ञा—त्तणु, प्पणु । स्वार्थिक प्रत्यय—अ, अड, उल्ल, अडय, अल्लय, अल्लहु । प्रायः—प्राउ, प्राइव, प्राइश्च और पगिम्म । यहाँ, वहाँ—एत्तहे, तेत्तहे । पुन्नउ—विषरण । एम्भत्तेम्भ—इस उस प्रकार । परं—केवल । ध्रुवं—निश्चय से । दिवंदिवं—दिन दिन । द्रवक्क—भय । मग्गोसा—डरो मत । आदन्न—पीड़ित । उट्ठावईस—उठावैठक । विट्ठालु—नोच । असड्ठलु—असाधारण । नोचदठ—नीचट । ठक्करि—व्यर्थ । दइवइ—शोघ । कोड्ड—क्रांतिक । मक्कड्डघुगिघ—शानर

की घुड़की। हुँहरत्ति—हहरकर। रवण—सुन्दर। बड़—मूर्ख, वालिय—मूर्ख। अपभ्रंश की उक्त प्रवृत्तियाँ आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण के अनुसार हैं। अपभ्रंश व्यापक और गतिशील भाषा थी जो पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण में फैली हुई थी, और जो नई उभरती हुई भाषाओं के बीच सामंजस्य बनाए हुए थी।

पूर्व परम्परा

चूँकि प्राकृत और अवधी प्राकृत परम्परा की भाषाएँ हैं, अतः इसकी बहुत सी प्रवृत्तियों का विकास अपभ्रंश में खोजा जा सकता है। 'मानस' में प्रयुक्त अधिकांश शब्द और प्रयोग इसी धारा के हैं। इसमें संदेह नहीं कि अवधी भाषा पर काफी कुछ काम हुआ है। डा. बाबूराम खसेना का 'अवधी भाषा का विकास' इस बारे में उल्लेखनीय है, उसमें मानस के कुछ छुटपुट विचार हैं। डा. देवकीनन्दन श्रीवास्तव ने 'तुलसी की भाषा' शीर्षक शोध प्रबन्ध लिखा। १९५४ में हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, ने तुलसी शब्द सागर प्रकाशित किया। मूलतः इसका संकलन आगरा के स्व. पं. हरगोविन्द तिवारी ने किया था, जिसे तीन हजार रुपये में खरीद कर भोलानाथ तिवारी (अब डा. भोलानाथ तिवारी) के संपादन में, उसने प्रकाशित किया। व्युत्पत्ति के विचार से इस कोश के सम्पूर्ण और प्रामाणिक होने का प्रश्न ही नहीं उठता। उसमें कुछ शब्दों का विकास अत्यन्त भ्रामक है। तुलसी साहित्य में प्रयुक्त सब शब्दों के संकलन के विचार से इसका ऐतिहासिक महत्व है। श्री रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' का शब्द कोश भी उल्लेखनीय है। १९७१ में 'मानस शब्दार्थ तत्व' (डा. अंबाप्रसाद 'सुमन') शीर्षक पुस्तक प्रकाश में आई, जिसमें १२४ शब्दों की व्युत्पत्ति देने का प्रयास है, इन व्युत्पत्तियों की प्रामाणिकता का विचार इस पुस्तक में है अतः यहाँ उनका विचार करना उचित नहीं। १९७५ में, इन्दौर से प्रकाशित 'वीणा' में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की लेखमाला मानस शब्द मीमांसा प्रकाशित हुई जिसमें व्युत्पत्ति के साथ, शब्दों के अर्थ की उपयुक्तता का विचार है। १९७८ में डा० देवेन्द्रकुमार जैन द्वारा लिखित 'हिन्दी शब्दों की विकास कथा' नीलाम प्रकाशन ने प्रकाशित की। हिन्दी भाषा और शब्दों के विश्लेषण में सबसे बड़ी बारा यह मान्यता है की खड़ी बोली और कौरवी एक हैं। यह मान्यता और इस पर आधारित अध्ययन की परम्पराएँ विश्वविद्यालयों में इतनी बद्धमूल हो चुकी हैं कि उन्हें टस से मस करना असंभव है। हिन्दी के भाषाविज्ञानी सही स्थिति को समझने के लिए तैयार नहीं हैं। कुछ गिने चुने विद्वानों ने इस सम्बन्ध में प्रयास किया है, परन्तु मुख्य कठिनाई यह है कि जिन विद्वानों को आधुनिक भाषा वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त है, वे हिन्दी के पूर्व की भाषाओं के ऐतिहासिक विकास और व्याकरण से परिचित नहीं हैं, और जो परिचित हैं, उन्हें भाषिक अध्ययन की आधुनिक दृष्टि प्राप्त नहीं,

अतः भाषा के विकास की स्वदेशी प्रवृत्तियों को उनकी स्वदेशी प्रक्रिया के सन्दर्भ में देखने की क्षमता उनमें नहीं है।

तुलसीके शब्दोंके विकासके अध्ययन-प्रसंगमें 'तुलसीकी तद्भव शब्दावली' पुस्तक देखने को मिली, जिस पर दिल्ली विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की है। उसमें कई शब्दों को विदेशी घोषित कर दिया गया है और यदि अपभ्रंश साहित्य में उन शब्दों का प्रयोग न मिलता, तो उन्हें स्वदेशी सिद्ध करना असम्भव था। अभी भी देश में ऐसे आधुनिक पंडितों की कमी नहीं कि जो कविता की तुषांत शैली को फारसी से आगत मानते हैं। एक प्रश्न यह भी है कि अरबी फारसी के जो शब्द, विकसित रूप में मानस की भाषा में ढल गए हैं, क्या उन्हें भी तद्भव माना जाए, उसी प्रकार जिस प्रकार संस्कृत के शब्दों को माना जाता है। मेरे विचार में तद्भव किसी भाषा की विकासशील प्रक्रिया का सूचक शब्द है, जिसके अनुसार तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्द सगोत्री हैं। तद्भव में तत् शब्द मूल या आकर भाषा का संकेत देता है, अतः आर्य भाषा के शब्द ही तद्भव शब्दावली के अन्तर्गत आते हैं। अरबी, फारसी और अंग्रेजी शब्दों का हिन्दी में स्वागत है, हिन्दी ने अपनी उच्चारण प्रक्रिया में ढाल कर उन्हें आत्मसात भी किया है, परन्तु उन्हें तद्भव कहना ठीक नहीं क्योंकि, हिन्दी या अवधी के तद्भव शब्द न होकर आगत शब्द हैं। 'तुलसी की तद्भव शब्दावली' शोधग्रंथ में व्युत्पत्तियाँ एकदम सपाट और गलत है। एक तो उसमें तत्सम और तद्भव के बीच विकास प्रक्रिया का उल्लेख नहीं है, दूसरे, गलत तत्सम शब्दों का उल्लेख है, जैसे अइस का विकास एषः से बताया गया है और दंष्ट्रा से दाढ़ी का। प्रश्न है कि 'यह' और 'डाढ़' का विकास किससे हुआ। 'चोर की दाढ़ी में तिनका' और 'उसकी डाढ़ में खून लग गया' दो अलग-अलग शब्द हैं। दंष्ट्रा से डाढ़ बना, दाढ़ी नहीं। इसी प्रकार ईंश से अइस बना, न कि एष से। उज्ज्वल विशेषण है उससे संज्ञा 'अंजोर' का विकास संभव नहीं। न्यासावर्त से नेवछावर का विकास मानना गप्प लगाना है। पुर्विलग स्थूण से स्त्रीलिंग थूनी का विकास तर्कसंगत नहीं, स्थूणा से विकास मानना होगा। आखेट संज्ञा है, अहेरी विशेषण, जो आखेटक से बनेगा, आखेट से नहीं। निकत से नीक नहीं बना, वल्कि नेक से नीक बना, सत्य और सर्प से साँच और साँप के विकास में अनुनासिकता सकारण है, अकारण नहीं। कैशर्त और दभ्र से विकसित केवट और डाबर में मूर्धन्य भाव सकारण है, अकारण नहीं।

निम्नलिखित शब्दों को विदेशी बताया गया है जबकि वे स्वदेशी हैं—

असवारा (फारसी)

अश्वारोही (संस्कृत)

कोतवाल (फारसी)

कोट्टपाल (संस्कृत)

विदा (फारसी)

(विदा) (संस्कृत)

विहाला (फारसी)

विह्वल (संस्कृत)

साहु (फारसी) शाह

साधु (संस्कृत)

कुछ विद्वान मानस के विभिन्न काण्डों में अलग-अलग भाषाओं के अस्तित्व की कल्पना करते हैं । उदाहरण के लिए उनके अनुसार अयोध्याकाण्ड में विशुद्ध अवधी है जबकि दूसरे काण्डों में ब्रज का पुट । वस्तुतः इस प्रकार की कल्पना का कोई औचित्य नहीं है । तुलसी ने परम्परा और लोक प्राप्त शब्दों और प्रयोगों को सहज रूप में स्वीकार किया है ।

“धुआँ देखि खर दूषण केरा
जाइ सुपनखा रावन पेरा ।”

कुछ विद्वानों ने संस्कृत ध्वंस से धुआँ का विकास माना है, जबकि धुआँ का विकास ‘धमपन’ से हुआ । पुरानी अवधी और पंजाबी में यह सुरक्षित है । इसी प्रकार पूज (पूं), सारा (समाचारित), मेला (मेरल) क्रियाओं का प्रयोग परंपरागत भाषा से मानस में अधिगृहीत है । इसी प्रकार तालाब, दाइज, चुकड़, बरात, पील, दूल्हा, बायनो आदि शब्द विशुद्ध स्वदेशी हैं, जो नदी की उद्दाम धारा में बड़ी-बड़ी चट्टानों की तरह घिस पिटकर वर्तमान रूप में सिकुड़ गए हैं, फिर भी वे अक्षर हैं, खण्डित होकर भी अखण्ड अर्थ की अभिव्यक्ति दे रहे हैं । शिव और पार्वती की तरह वाक् और अर्थ मिले हुए हैं ।

भाषा सर्वेक्षण : अवधी और मानस

अपने भाषा सर्वेक्षण (खण्ड ६) में अवधी को पूर्वी हिन्दी की प्रमुख बोली मानते हुए उसके विकास के बारे में ग्रियर्सन का कहना है कि ईसवी सन् की प्रारम्भिक सदियों में गंगा और यमुना की तराइयों में बोली जाने वाली प्रधान भाषाएँ प्राकृत थीं । इनमें शौरसेनी पश्चिम में बोली जाती थी, जिसका केन्द्र उत्तरी द्वाबा था, तथा पूर्व में मागधी बोली जाती थी, जिसका केन्द्र वर्तमान पटना के दक्षिण में था । दोनों के मध्य एक विवादग्रस्त क्षेत्र था जिसकी सीमाएँ मोटे तौर पर वर्तमान अग्रध से मेल खाती थी । इस क्षेत्र की भाषा मिश्रित थी - अर्ध-मागधी यानी आधी मागधी । कुछ शौरसेनी और कुछ मागधी की विशेषताएँ ग्रहण करने वाली भाषा कहा गया है (पृ० ३) । यह मिश्रित भाषा (अर्द्ध मागधी) पूर्वी हिन्दी की पूर्वजा है । ये बोलियाँ गंगा-यमुना के कछार में अर्थात् पंजाब के सरहिंद से लेकर बनारस तक फैली हुई हैं, इन्हें हिन्दी कहा जाता है । ये दोनों स्वयम् ही पर्याप्त भिन्न दो वर्गों में विभक्त हैं—जिन्हें पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी कहते हैं । पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत, अन्यान्य क्षेत्रीय रूपांतरों के अतिरिक्त ब्रजभाषा कन्नौजी, बुंदेली तथा भारत के बड़े भूभाग की राष्ट्रभाषा (लैंग्वा फ्रेंका) परिनिष्ठित हिन्दुस्तानी है । एक ही भाषा के (शौरसेनी प्राकृत) के इन विविध रूपों को

मैं पश्चिमी हिन्दी की संज्ञा दे रहा हूँ। पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत अन्यान्य क्षेत्रीय रूपांतरों के अन्तर्गत उक्त बोलियों का समुदाय मेरे द्वारा पूर्वी हिन्दी कहा गया है। यह स्पष्टीकरण इसलिए आवश्यक है क्योंकि अभी तक किसी के द्वारा इन दो भाषाओं के नामकरण का प्रयास नहीं किया गया। उनका अस्तित्व ही संदिग्ध रहा है। इस तरह प्रियर्सन के अनुसार पूर्वी शाखाओं की भाषाओं की तरह पूर्वी हिन्दी में 'अ' स्वर (फ्लेट) स्वर ओ का रूप धारण कर लेता है। पूर्वी हिन्दी (वस्तुतः अवधी) भोजपुरी से मिलती जुलती है। इसमें अंश में 'ऐ' विकारी रूप आता है। यह कहना अधिक तथ्यपूर्ण है कि पश्चिमी भोजपुरी ने इस प्रवृत्ति को पूर्वी हिन्दी से ग्रहण किया, क्योंकि पूर्वी शाखाओं की अन्यान्य भाषाओं में यह विकारी रूप 'आ' में अन्त होने वाला मिलता है।

पूर्वी हिन्दी की सर्वनाम पद - रचना - पश्चिमी हिन्दी से पर्याप्त वैविध्य रखती है। पश्चिमी हिन्दी में पुरुष दाचक सर्वनाम के संबंधकारक के एक वचन रूप का धातु स्वर 'ए' है। जबकि पूर्वी हिन्दी में 'ओ' मिलता है, जैसे मेरा के लिए बंगाली और बिहारी में मोर है। इस सम्बन्ध में पूर्वी हिन्दी पूर्वी शाखा का अनुसरण कर रही है। क्रियापद के रूपों में भी भिन्नता है। पूर्वी हिन्दी में सहायक क्रिया अहेउँ है, परन्तु अवध के पूर्वी भागों में बाटेउँ मिलता है। भूतकाल में प्रियर्सन ने अवधी के दो नाम और गिनाए हैं—कोसली और वैसवाड़ी। अवधी की बोली होने से यह अवधी कहलाई। कोसली इसलिए क्योंकि कोसल अवध का प्राचीन नाम है। वैसे राजपूतों की निवास भूमि होने से - एक नाम वैसवाड़ा भी है, उनकी बोली वैसवाड़ी। वैसवाड़ी बोली - मुख्यतः लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, फतहपुर तक सीमित है। इनमें थोड़े बहुत स्थानीय भेद हैं। प्रियर्सन का यह भी मत है कि डा० कैलाश ने जो वर्तमान बोली को अवधी कहा है वह ठीक है, तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त अवधी को प्राचीन पूर्वी अवधी कहना उचित है। प्रियर्सन का मत है कि अवधी में रामायण (रामचरित मानस) की रचना कर तुलसी ने उनके भाग्य पर मुहर लगा दी। इससे भारतीय साहित्य, र के लिए अवधी का प्रयोग अनिवार्य हो गया, और वह उत्तरभारत के काव्यों की माध्यमिक बन गई। एक तो मानस की भाषा में समृद्ध शब्द भंडार सुरक्षित रहा, दूसरे हिन्दोस्तान की ओजपूर्ण शैली के छंद दोहे और चौपाइयों की लय के साथ संगति बिठलाए हुए हैं।

प्रियर्सन के उक्त विचारों के आधार पर किन्हीं निकाषों तक पहुँचना तब तक संभव नहीं कि जबतक यह तय नहीं हो जाता कि शौरसेनी और अर्द्धमागधी की पूर्ववर्ती भाषा कौन थी, ये दो अलग-अलग भाषाएँ थीं या एक, तथा पूर्ववर्ती भाषा से इनका क्या ऐतिहासिक सम्बन्ध था। अवधी वधेजी और छत्तीसगढ़ी को पूर्वीहिन्दी नाम देने का श्रेय प्रियर्सन को है।

परन्तु हमें, यह नहीं भूलना चाहिए कि पश्चिमी और पूर्वी भाषाओं का यह विभाजन प्राकृतों में भी था। संयोगात्मक भाषाएँ होने से उनका क्षेत्र व्यापक था, और उनकी तुलना में पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी का क्षेत्र संकुचित है। क्योंकि वे वियोगात्मक भाषाएँ हैं। प्रियर्सन का तर्क विचार की अपेक्षा रखता है कि ठेठ पश्चिमी (शौरसेनी) और ठेठ पूर्वी (मागधी) के बीच की भाषा होने से तीसरी प्राकृत अर्द्ध मागधी कहलाई, जो पूर्वी हिन्दी की पूर्वजा है। उसमें आधे संस्कार शौरसेनी के हैं और आधे मागधी के। प्रश्न है कि इसे अर्द्ध मागधी की तरह हम अर्द्ध शौरसेनी क्यों नहीं कह सकते? क्योंकि दोनों नामों के बारे में समान तर्क है। शौरसेनी और मागधी प्राकृतों से हिन्दी के पश्चिमी और पूर्वी रूपों का सीधा विकास मानना ठीक नहीं क्योंकि उनके बीच में अपभ्रंश है। कर्त्ताकारक के जिस अंतरको प्रियर्सन ने लक्षित किया है, वह नया नहीं है, वह पश्चिमी और पूर्वी प्राकृतों में भी था। प्रियर्सन का यह निष्कर्ष भी विचारणीय है कि अवधी में भूतकाल की क्रिया के रूप कर्मवाच्य में होते हैं, परन्तु उनमें 'ने' (पश्चिमी हिन्दी के कर्मवाच्य में प्रयुक्त) का प्रयोग नहीं होता। विकारी रूप से काम हो जाता है। जैसे उइ मारिस (उसके द्वारा मारा गया, वस्तुतः उसने मारा) इसमें 'उइ' विकारी रूप है जिसका कर्त्ता कारकोय रूप 'स' है। उनके अनुसार, यह विशेषता अवधी की अपनी है, जो मलिक मुहम्मद जायसी और तुलसीदास की कविता में मिलती है। मारिस का 'स' एक प्राचीन परसर्गीय सर्वनाम के परसर्गीय रूप का अवशेष है, जिसका अर्थ वह नहीं अपितु उसके द्वारा है। प्रश्न है कि यदि 'स' किसी प्राचीन सर्वनाम के परसर्गीय रूप का अवशेष है, तो उसे सर्वनाम 'उइ' के साथ जुड़ना था, वह 'मारि' क्रिया के साथ क्यों जुड़ा? मान लिया कि 'स' का अर्थ 'के द्वारा' है, परन्तु 'मारि' क्रिया का अर्थ मारा गया कैसे हुआ? दुनिया की किसी भाषा में यह नियम नहीं है कि क्रिया से जुड़ी विभक्ति से कर्त्ता की विभक्ति का बोध हो। 'उइ मारिस' सामान्य भूत कर्म वाच्य का उदाहरण है, जिसका अर्थ है उसने मारा। दूसरा प्रयोग है उसके द्वारा मारा गया (सः तेन मारितः)। सामान्यतः, पहला वाक्य हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल है। अवधी में पश्चिमी हिन्दी के 'ने' परसर्ग का प्रयोग नहीं है, परन्तु 'इ' का प्रयोग है, जो संस्कृत की तृतीया विभक्ति 'एन' का बचा हुआ रूप है।

हिन्दी में पुरुषवाचक और निर्देशवाचक सर्वनामों के लिए यह/इह, वह/उह सर्वनाम रह गए थे, जो दोनों का काम करते थे। जैसे वह गया (He went — सः गतः) वह पुस्तक लाओ (Bring that book—तत् पुस्तकम् आनय)। अपभ्रंश कवि स्वयंभू ने इनका प्रयोग किया है—

उहु साहार-तिलउ दीसंति— (३२।६ प.च.)
वह सहकार तिलक वृक्ष दिखाई देते हैं।

एस सो जंबू एहु असत्थु—

(१२।५ प. च.)

यह वह जंबू वृत्त है, यह वह अश्वत्थ वृत्त है ।

आगे चलकर उह/वह और इह/यह रूप उ और इ रह गए । जैसा कि विद्यापति के अवतारण से प्रमाणित है—‘ऊ. सिवसेहर सोहइ, ई नायरमन मोहइ’ । लेकिन प्रियर्सन के अनुसार ये प्रयोग कर्मवाच्यमूलक हैं । ‘उइ मारिस’—उसने मारा । अतः ‘उ’ में जो ‘इ’ है वह करण की विभक्ति ‘एन’ का बचा हुआ रूप है । एन के लिए अपभ्रंश में एँ, एन, इ, ए, इन इतने रूप होते हैं, अतः उइ का अर्थ होगा उसने । अब आइए ‘मारिस’ पर जो मारितः का तद्भव है, मारितस्→मारिअस→मारिस । उसने मारा या उसके द्वारा मारा गया—यह भूत कर्दंत का रूप है । उसे किसी सर्वनामी परसर्ग का अवशिष्ट रूप बताने से भाषा विश्लेषण में गड़बड़ पैदा होगी । जहाँ तक पूर्वी अवधी में उइ मारिस जैसे रूपों की जगह उ मारिस रूपों का सवाल है—उनमें ‘इ’ भुलाया नहीं गया है, जैसा कि प्रियर्सन समझते हैं । बल्कि उसमें लुप्त विभक्ति पद का प्रयोग है । क्रिया के बल बूते पर वहाँ करण कारक का अध्याहार हो जाता है । यह एक अजीब बात है कि जिस देश में ऋग्वेद से लेकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं तक प्रत्येक भाषा का साहित्य उपलब्ध है, वहाँ उनके भाषा वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर भारतीय आर्यभाषा का ऐसा रचनात्मक इतिहास नहीं लिखा गया जो किसी भी आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में सहायक होता तथा उससे यह तथ्य भी उजागर होता कि प्रादेशिक भाषाओं के समान्तर एक सम्पर्क भाषा प्रयुक्त होती रही है तथा जिसका प्रभाव प्रत्येक प्रादेशिक साहित्यिक भाषा पर पड़ा । उसके विकास की ऐतिहासिक कड़ियाँ क्या हैं ? हिन्दी के सन्दर्भ में प्रियर्सन के अध्ययन में इन बातों का विचार नहीं हो सका । इसमें प्रियर्सन का दोष नहीं है, क्योंकि हिन्दी जैसी व्यापक भाषा एक ओर ऐतिहासिक भाषा से जुड़ी है जब कि दूसरी ओर वह प्रादेशिक तत्त्वों से । फिर उसका एक बहुत बड़ा बोली समूह है, जिनके विकास की प्रवृत्तियों से तालमेल बैठते हुए हिन्दी के विकास का रचनात्मक इतिहास लिखना कठिन काम है ।

अवधी भाषा के विकास का रचनात्मक इतिहास लिखते समय भी यह बात सच है । प्रियर्सन का यह कथन कि अवधी में रामायण (रामचरित मानस) की रचना कर तुलसी ने उसके भाग्य पर मुहर लगा दी, सही है, परन्तु यह कहना सही नहीं है कि इसके कारण काव्य में अवधी का प्रयोग करना अनिवार्य हो गया, और वह उत्तर भारत के काव्यों की माध्यम बन गई । इसका कारण यह है कि एक तो उसके पहले मल्लिक मुहम्मद जायसी अवधी में पद्मावत की, और उनसे आठ सौ साल पहले स्वयंभू अपभ्रंश में पद्मचरित की रचना कर चुके थे । अवध के राजकुमार राम पर आधारित उनका यह काव्य—गढ़ड़िया शैली में है जिसका

प्रवर्तन चतुर्मुख ने किया था, इस प्रकार दोहा चोगाई आदि की मुक्तक और संप्रदण रीति भी तुलसी से ७-८ सौ साल पूर्व से प्रचलित थी। ये शैलियाँ अवधी से भिन्न भाषाओं में भी थीं, उनके रचयिता और पाठक भी अवध प्रदेश के बाहर के थे। मानस की भाषा का ठाँचा अवधी है परन्तु उसमें परम्परागत काव्य भाषा संस्कार भी हैं। राम केवल अवध के राजकुमार ही नहीं हैं, अपितु मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में लोकश्रद्धा के आलंबन तथा अवतारो पुराण पुरुष भी हैं। उनके समकक्ष दूसरे कोई पुराण पुरुष हैं तो वे हैं श्रीकृष्ण। कहने का आशय यह कि राम काव्य अवधी के प्रसार में तुलसीदास का महत्वपूर्ण योगदान है परन्तु इसके लिए दूसरे कारण भी उत्तरदायी हैं जिनको विस्मृत नहीं किया जा सकता।

भारत के प्राचीन भाषा केन्द्र और अवधी

हाल ही में डा० रामविलास शर्मा की पुस्तक 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी' प्रकाशित हुई है। पुस्तक में उनको मुख्य स्थापना है कि 'भारत में 'आदि इन्डोयूरोपियन' नाम की कोई भाषा नहीं थी। भारत को एक भाषाई क्षेत्र मानकर आर्य-द्रविड़ परिवारों के आपसी सम्बन्धों का विचार करते हुए विद्वान लेखक का निष्कर्ष है कि एक ही भाषायी क्षेत्र में सैकड़ों साल तक रहने के कारण आर्य द्रविड़ परिवारों ने कुछ ऐसी सामान्य विशेषताओं का विकास किया है जो मूलतः उनमें नहीं थीं। ये विशेषताएँ आर्य-द्रविड़ के अतिरिक्त कोल (मुण्डा) और नाग (तिब्बत-चीनी) भाषा परिवारों में भी मिल सकती हैं। लेखक के अनुसार एक आदिम मानव समुदाय स्वतः विकसित भाषा नहीं बोलता। भाषा परिवारों के मूल तत्त्व किसी कबीले के नहीं होते, अनेक कबीलों के होते हैं जिन्हे वे अनेक स्रोतों से प्राप्त करते हैं। कृषि-सभ्यता का विकास आरम्भ होने पर गण समाजों में आपसी सम्पर्क बढ़ता और सुदृढ़ होता है। अतः गण समाजों के सुदीर्घ भाषायी विकास की प्रक्रिया के स्थान पर, जननी भाषा और उनकी पुत्री भाषाओं की उत्पत्ति का सिद्धान्त स्थापित करना ठीक नहीं। वे यह नहीं मानते कि भारत में हमेशा, बाहर से आकर लोग बसते रहे हैं, और वह प्राचीन काल से भाषा तत्त्वों का आयात केन्द्र रहा है। उनका कहना है कि भारत भाषा-तत्त्वों का निर्यात केन्द्र भी रहा है। यह मान्यता गलत है कि जिसकी लाठी चलेगी, उसकी भाषा चलेगी। डा० शर्मा का मत है कि वैदि १ भाषा के पहले भारत में जो जनभाषा थी, उसके प्रदेशगत भेद थे। उन प्रादेशिक भेदों में से जो भेद साहित्यिक रूप प्राप्त कर चुका होगा, उसमें वेदों की रचना हुई होगी, परन्तु अन्य प्रादेशिक रूपों के भी शब्द-प्रयोग गृहीत हुए होंगे। विद्वान लेखक, वैदिक भाषा के पहले की आर्य भाषा-विकास-परम्परा को पढ़ने के लिए मध्य प्रदेश के केन्द्र में रखता है, जिसमें पहले

कोसल गण-भाषा समुदाय था, दूसरा भाषा समुदाय था शूरसेन गण-भाषा समुदाय, पूर्व में मगध गण-भाषा समुदाय और उत्तर में कुरु गण-भाषा समुदाय, था। वैदिक भाषा का विकास मध्यदेशी भाषा या भाषाओं से हुआ, उसका ध्वनि-तन्त्र प्राचीन मध्यदेशीय भाषा के ध्वनि तन्त्र से भिन्न है। बांगरु को छोड़कर, ब्रज से लेकर मैथिली तक हिन्दी जनपदीय भाषाओं का ध्वनि तन्त्र, वैदिक भाषा और संस्कृत के ध्वनि तन्त्र की अपेक्षा प्राचीन मध्यदेशीय भाषा के ध्वनितन्त्र से अधिक मिलता है। शब्द तन्त्र की अनेक प्रक्रियायें, संस्कृत के अनुरूप हैं, अनेक भिन्न हैं और अत्यन्त प्राचीन हैं, इसकी पुष्टि इन्डोयूरोपियन और द्रविड़ परिवारों में प्राप्त उदाहरणों से हो जाती है। रूपतन्त्र की अनेक विशेषताएँ वैदिक काल में पुरानी पड़ने लगी हैं, बहुधा वे अवधी, मगही और मैथिली आदि में मिलती हैं। इस प्रकार केन्द्र में मध्य देश है, वह कुरु और मगध दोनों ओर के क्षेत्रों को प्रभावित करता है, कुरु समुदाय उत्तरी भाषाओं, शूरसेन समुदाय पश्चिमी आर्य भाषाओं और मगध समुदाय पूर्वी भाषाओं को। ये एक दूसरे को भी प्रभावित करते हैं। लेखक के अनुसार आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास में इन जनपदीय भाषाओं का योग है। इस प्रकार प्राचीन काल में भारतीय भाषा परिवार अखिल भारतीय सामान्य विशेषताओं का विकास कर चुका था। ये विशेषताएँ केवल आर्य नहीं, अखिल भारतीय हैं, जो यूरोप की भाषाओं के विकास को प्रभावित करती हैं। इस प्रक्रिया में आर्य-द्रविड़-भाषा समवाय घुरी के समान है। भारतीय आर्यों की गण व्यवस्था, जब अपनी अन्तिम संजिल में प्रवेश करती है, तब तक यूरोप की भाषाओं का निर्माण क्रम समाप्त नहीं हुआ था। डा० शर्मा का मत है कि प्राचीन काल में कुरु, कोसल और मगध तीन पबल गण समाज थे, वैदिक भाषा मूलतः मध्यदेश की भाषा थी, मध्यदेश में व्यवहृत गण-भाषाओं में कोसली मुख्य थी, कुरुगण के प्रभाव से उसने वैदिक भाषा का रूप ग्रहण किया और मगध के प्रभाव से संस्कृत का। इस स्थापना के मूल में मुख्यतः तालव्य 'श' का प्रवेश है, जो डा० शर्मा के अनुसार मगध गण-भाषा की मूल प्रवृत्ति है। बाद में यह प्रवृत्ति बंगला भाषा में सुरक्षित रही। कोसली, (जिसके आधार पर पालि का विकास हुआ) ही वैदिक भाषा और संस्कृत की मूल भाषा हैं। इस प्रकार संस्कृत के विकास में मध्यदेश की प्राचीन आर्य भाषाओं के स्वरूप की जो मूलतः हमें मिलती है उसी से आधुनिक हिन्दी का ध्वनितन्त्र अधिक मिलता जुलता है। डा० शर्मा के विचारों का मुख्य निष्कर्ष यह है कि कई आर्य गण-भाषाएँ ऐसे सामान्य भाषा तत्त्वों का निर्माण करती हैं जो केन्द्र भाषा को आकार देते हैं, अर्थात् अनेक गणभाषाओं से एक केन्द्रीय भाषा का विकास होता है। यह निष्कर्ष परम्परागत उस निष्कर्ष के विपरीत है कि जो एक मूल आर्य भाषा से अनेक प्रादेशिक आर्यभाषाओं के विकास की कल्पना करता है। दोनों में कौन सही है इसका अन्तिम निर्णय तब तक संभव नहीं कि जब तक, ठोस प्रमाणों से तर्कों का समर्थन नहीं होता। दोनों निष्कर्ष

अनुमानों पर आश्रित हैं। भाषा का वंश मूलक विकास मानने वाले ऐतिहासिक भाषा विज्ञानी तथा गणमूलक विकास मानने वाले भाषाविज्ञानी जिस पूर्व वैदिक आर्य भाषा की कल्पना करते हैं, जिसका साहित्यिक रूप ऋग्वेद की भाषा में है, या जिससे संस्कृत का विकास हुआ, उसका कोई लिखित रूप हमारे सामने नहीं है। कुछ ध्वनियों के केन्द्रों की कल्पना किसी ठोस सिद्धान्त या प्रमाण पर आधारित नहीं है।

मुख्य प्रश्न है कि कुरु, शूरसेन, बोलसल और मगध आर्य-गणों का मूलतः एक समान आर्य-गण था या वे सर्वथा स्वतंत्र-गण थे। यदि विभिन्न आर्य-गण किसी एक मूल गण के विकास थे, तो उनकी भाषा मूलभाषा से विकसित हुई होगी। यदि वे अलग-अलग थे और उनकी गण-भाषाएँ भी अलग थीं तो उनमें समानता का आधार क्या था? जिस कोसली और कुरुभाषा के मेल से वैदिक भाषा विकसित हुई, या जिस मागधी के मेल से कोसली संस्कृत बनी, उन दोनों का गणभाषा के रूप में क्या स्वरूप था? यह जानने का कोई साधन हमारे पास नहीं, सब अनुमान ही अनुमान है। आज जो पालि, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध है, वह संस्कृत प्रभावापन्न है। यह भी विचारणीय है, कि ध्वनियों के परिवर्तन का कारण जनों की उच्चारण प्रक्रिया है या क्षेत्रकाज। उदाहरण के लिए संस्कृत में स्कंभ का अर्थ है—खंभा, सहारा और शूणी। इसी प्रकार स्तंभ का अर्थ है रोकना और बाधा डालना। स्तंभन का भी लगभग यही अर्थ है। स्तन का अर्थ व्याख्या करना है। 'स्क' क्रिया नहीं है स्कंद है जिसका अर्थ उछलना-कूदना है। 'स्कन्न' क्रिया अवश्य है जिसका अर्थ गिरना, पतित होना है। संस्कृत में शब्द मूल स्तक और स्कन्न हैं, स्त और स्क एक नहीं, जैसा कि डा० शर्मा ने लिखा है। उनसे 'स्तंभ' और स्कंभ बनते हैं। थंभ का खंभ नहीं होता। डा. शर्मा का यह कहना, तर्कसंगत नहीं है कि 'स्क' से परिनिष्ठित हिन्दी में 'खड़े होना' क्रिया पद बना। संस्कृत 'स्थान' से ठाढ़ और खड़ा विशेषण बनते हैं। प्राकृत वैयाकरणों ने ठूँठ और शिव के वाचक 'स्थाणु' शब्द के स्था का खा त्रिकल्प माना है, यदि अर्थ ठूँठ हो तो। शिव के अर्थ में स्थाणु ही रहता है। यह ध्वनि परिवर्तन अर्थ व्यञ्छेदक नहीं है, यानी 'ठाढ़' का जो अर्थ और प्रयोग है, वही खड़ा का है। 'खड़ा' पंजाबी, बांगरु और कौरवी में प्रचलित है। हिन्दी बोली, समूह बिहारी भाषा-समूह में ठाढ़ प्रचलित है, राजस्थानी, गुजराती में 'उमा'। अतः 'खड़ा होने' के मूल में 'स्क' वाला क्रियामूल नहीं है। इसी प्रकार 'ठाढ़' स्था क्रियामूलक है, स्तामूलक नहीं। 'स्त' क्रियामूल से स्तंभ बनता है। फारसी में स्थान का प्रतिरूप 'खाना' नहीं है। उसमें मूल शब्द खानः है, जिसका मुख्य अर्थ घर है। संस्कृत में स्तान शब्द नहीं है, वह स्थान का तद्भव है। खाना फारसी खानः का तद्भव है। अतः 'स्क' से खड़ा और 'स्त' से ठाढ़ की व्युत्पत्ति असम्भव है, 'इ' के लिए मूल ध्वनि चाहिए। एक बात और, खड़ा शब्द

का प्रयोग मराठी में है। क और त (स्क, स्त) ध्वनियों के केन्द्र अलग अलग नहीं हैं। स्कंभ और स्तंभ के समानांतर स्कंद क्रिया भी है, जिसका अर्थ हलचल करना या उछलना है। अतः यह कहना अधिक तर्कसंगत है कि मूल भारोपीय भाषा में स्कंभ और स्तंभ दोनों थे। संभव है कि किसी प्रदेश में स्क से विकसित रूप प्रचलित हुए हों और किसी में 'स्त' से विकसित रूप। फारसी के खाना और संस्कृत स्थान से विकसित रूपों (थाना, थानक, ठाना) का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह डा० शर्मा खुद स्वीकार करते हैं कि 'स्क' स्कंभ (खंभ) संभा में सुरक्षित है, सम्भव है किसी गण-भाषा में क्रिया रूप में प्रयुक्त होता रहा हो। कुरु, शूरसेन, कोसल और मगध गणों की कभी एक ही मूल आर्यभाषा रही होगी। जब मूल केन्द्र से आर्यों की बस्तियाँ फैलती हैं तो स्थानीय भौगोलिक परिस्थियों और भाषागत परिवर्तनों के कारण, उनमें भिन्नता आ सकती है। मान लीजिए कुरुगण मगध में बसा होता और तथाकथित मगधगण कुरुक्षेत्र में, तो क्या इससे इन क्षेत्रों की भाषास्थिति में अंतर नहीं पड़ता? मान लीजिए मूल आर्यभाषा बोलने वाले फैलते नहीं, एक ही जगह रहते तो क्या उनकी भाषा अपरिवर्तित रहती? भाषा में परिवर्तन के कारण उसकी रचना प्रक्रिया में हैं। तथाकथित 'कोसली' के (जो डा० शर्मा के अनुसार कुरुभाषा से मिलकर साहित्यिक वैदिक भाषा की रचना करती है, और मागधी से मिलकर संस्कृत की) कई भेद हैं। उसकी कई बोलियाँ हैं। क्या ये भेद प्रारंभिक पूर्ववैदिक प्राच्य आर्यभाषा (यह कोसली ही हो सकती है) में भी थे? वैदिक आर्यों का सम्बन्ध मूलतः उत्तर पश्चिम से रहा है। वैदिक भाषा में जब हम मूधन्व नासिक्य (ण) को स्वीकारते हैं, तो उस जनभाषा में भी वह रही होगी, जिससे संस्कृत का विकास हुआ। हो सकता है, मध्यदेश में आकर वह 'न' रहा हो। संयुक्त स्वरों ऐ, औ, और व्यंजनों च, ज, झ के सम्बन्ध में यह कहना सही है कि ये भारतीय आर्यभाषा की मूल ध्वनियाँ नहीं हैं; हो सकती है, दूसरी पूर्ववर्ती आर्यभाषा की संयुक्त ध्वनियों को आत्मसात करने के लिए इन्हें स्वीकार किया गया हो। अपने विवेचन में डा० शर्मा इस तथ्य की अनदेखी करते हैं कि संस्कृत और आर्यभाषाओं (गण-भाषाओं) को वही स्थिति नहीं हो सकती जो आज हिन्दी और उसकी बोलियों को है, अतः दोनों स्थितियों की तुलना का कोई आधार नहीं है। आर्य भाषा संहित अवस्था से व्यवहित अवस्था में विकसित हुई है, उसमें भेद-उपभेदों की सम्भावनाएँ अधिक हैं। भाषा 'तत्व' में केवल कतिपय ध्वनियों का ही नहीं अपितु उसकी समूची रचना प्रक्रिया का विचार करना होता है। डा० शर्मा के कथन से कि वैदिक भाषा संस्कृत के विकास के पूर्व कई आर्य-गण-भाषाएँ थीं या आर्यतर भाषाएँ थीं, स्थिति में अन्तर नहीं पड़ता। यह सोचना भी सही नहीं है कि रुढ़िवादिता के कारण प्राकृतों में वास्तविक भाषाओं की विशेषताएँ प्रतिबिम्बित नहीं हो पातीं। अपभ्रंश में रुढ़िवादिता थोड़ी खंडित हुई, पूरी नहीं। हालांकि डा० शर्मा यह स्वीकार करते हैं कि अपभ्रंश में देशी तत्व हैं।

वस्तुतः देशीतत्व, बोलचाल की भाषा के तत्व के बिना किसी भाषा की रचना ही संभव नहीं। जिसे डा. शर्मा खरोष्ठी प्राकृत कहते हैं, जिन्हें वे अपभ्रंश से अधिक गतिशील मानते हैं, वह वस्तुतः निय प्राकृत है, जो खरोष्ठी लिपि में लिखित है। खरोष्ठी नाम की कोई प्राकृत नहीं है। भाषा विज्ञानियों का कहना है कि 'निय प्राकृत' अपभ्रंश के पूर्व की याद दिलाती है। यह कहना भी तर्कसंगत नहीं है कि "कान्य कुब्ज दरबार में अवधी बोलने वाले बहुत से कवि थे जो तुर्क आक्रमण के पहले बिखर गए। तुर्क आक्रमण के फलस्वरूप यह प्रक्रिया और तीव्र हुई। यह तथ्य इतिहास से सम्मत है कि उत्तर के कवि कर्णाटक में जाकर बसते हैं और अपभ्रंश में काव्य रचना करते हैं। यह बात स्वयंभू के उदाहरण से स्पष्ट है।" उक्त कथन इतिहास को तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत करता है क्योंकि स्वयंभू कान्य कुब्ज दरबार से सम्बद्ध नहीं थे। इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं है कि वे उत्तर से दक्षिण गये थे। उनकी कविता न तो दरबारी कविता है और न वह तांत्रिक साधना से सम्बद्ध है। उनकी कविता में नारी के कई रूप प्रतिबिम्बित हैं, जो यथार्थ से उपजे अनुभवों पर आधारित है। उसमें सामन्तवाद के साथ धार्मिक और नैतिक मूल्यों की भी अनुगूँज है। अपभ्रंश विशेष प्रकार के कवियों की भाषा नहीं थी। अपने समय में वह उतनी ही लोकभाषा थी जितनी कि अवधी तुलसी के समय। अपभ्रंश की तरह अवधी का गद्य नहीं मिलता। इससे यह समझ लेना कि वे सिर्फ पद्य की भाषाएँ थीं, ठीक नहीं। कवि सोचता गद्य में है, पद्य उसकी शैली है। एक ओर डा० शर्मा अपभ्रंश को रूढ़ और विशेष प्रकार के कवियों की भाषा मानते हैं और दूसरी ओर हेमचन्द्र द्वारा विश्लेषित अपभ्रंश के रूपों से, मानस में प्रयुक्त अवधी रूपों की तुलना भी करते हैं। उनके अनुसार दोनों में निम्न-लिखित समानताएँ हैं—

अपभ्रंश

अवधी (मानस)

कर्त्ता-कर्म में उकारान्त प्रवृत्ति—

मा कुरु दोहा माणु

नामु सप्रेम जपत अनयासा

करण के एकवचन में अनुस्वार का प्रयोग—

अहरें अहरु न पत्तु

इच्छित फलु बिनु सिव अवराधें

सम्बन्ध में सु चिन्ह का प्रयोग—

निच्छइँ रुसइ जासु

जासु हृदय-आगार बसहिँ राम सर चाप धर

अधिकरण बहुवचन में हिँ—

हँ न जुततँ दुहुँ दिसिहिँ

बिसरि देह तपहि मनु लागा

अन्य पुरुष वर्तमान एक वचन—

दड़बड़ होइ विहाणु

जो सुमिरत सिद्धि होइ

बहुवचन में हिँ—

जिवं जिवं वडत्तणु लहहिँ

जथा नवहिँ बुध विधा पाप

आज्ञा में 'हु'—

करहु म अप्पहो घाउ

सुनहु राम जेहि सिवधन तोरा ।

आज्ञा में 'उ' होता है—

अरे खल मेह म गज्जु

भागु-भागु पै करहु पिय

क्रिया की संभावना—

जं भावइ तं होउ

बरउँ संभु न तो रहउँ कुँआरी ।

पूर्वकालिक क्रिया—

मारइ हिअइ पइटिठ

निज तन प्रगटि प्रति उर छाई

डा० शर्मा का कहना है कि हेमचन्द्र की अपभ्रंश में अवधी के साथ, कुछ रूप पश्चिमी अपभ्रंश के हैं। वैसे चर्यागीतों की भाषा में अवधी के साथ पश्चिमी भाषाओं के भी रूप हैं, इससे सिद्ध है कि पूर्व पश्चिम और इनके मध्य जहाँ भी अपभ्रंश लिखी गई, उसमें अधिकतर अवधी भाषा तत्वों की मिलावट है। यह सभी जानते हैं कि हेमचन्द्र ने पश्चिमी अपभ्रंश का व्याकरण लिखा है, जिसका मूल आधार संस्कृत है। डा० शर्मा उसमें अवधी भाषा तत्वों के रूप देखते हैं पाठकों की सुविधा के लिए, अपभ्रंश का संक्षिप्त व्याकरण अन्यत्र दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि उसमें संस्कृत-प्राकृत भाषा-तत्त्व हैं न कि अवधी भाषा-तत्त्व। अवधी की मूल प्रकृति ह्रस्वांत है, उसमें यदि अपभ्रंश की उकारान्त प्रवृत्ति मिलती है, तो मानना होगा कि अपभ्रंश भाषा तत्व मानस की अवधी में मिलते हैं, न कि अवधी के भाषातत्व अपभ्रंश में क्योंकि वह पूर्ववर्ती भाषा है। स्वयंभू और पुष्पदंत दक्षिण के थे, और उन्होंने वही रहकर अपभ्रंश साहित्य की रचना की है, उसमें भी वही उकारान्त प्रकृति है, गुजरात में जो अपभ्रंश साहित्य लिखा गया, उसमें 'ण' की जगह 'न' है। उसके एक अंग सौराष्ट्र में 'ण' है। कहने का अभिप्राय यह कि किसी ध्वनि के उच्चारण की विशेषता क्षेत्रीय प्रवृत्ति है, उसके आधार पर गणभाषा ध्वनि केन्द्र की कल्पना अभाषावैज्ञानिक कल्पना है।

जहाँ तक मानस की भाषा का सम्बन्ध है—उसमें ऐतिहासिक भाषा तत्वों और क्षेत्रीय भाषा तत्वों का घोल तो है ही, साथ ही अति देशी भाषा तत्वों का भी घोल है। अतः उसके मानक रूप का निर्धारण और उसके आधार पर मानस का, पाठभेदों सहित, वैज्ञानिक रूप से संपादित संस्करण एक ऐतिहासिक आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति अब कठिन इसलिए नहीं है क्योंकि काशिराज संस्करण उपलब्ध है, उसे केवल तुलसी की मानक भाषा की दृष्टि से सँवारना और वर्तनी की दृष्टि से एकरूपता प्रदान करना है।

रामचरित मानस : मुनिसंहिता

डा० विष्णुदत्त राकेश*

[मार्कण्डेय पुराण के रनुक्षार परमेष्ठी ब्रह्मा से ऋषियों ने वेद (ऋषि संहिता) तथा मुनियों ने इतर अथवा आगम (मुनि संहिता) ग्रहण किया । आगमों के प्रामाण्य पर विद्वानों द्वारा विस्तृत विचार किया गया है । उसी विचार को आधार मानकर यदि 'रामचरित मानस' का चिन्तन किया जाय तो इसे भी आगम माना जा सकता है]

श्री मद्भागवत को परमहंस-संहिता कहा गया है ।^१ परमहंस-संहिता इस लिए कि उसमें परमहंस शुक्रदेव वक्ता हैं तथा मुनिश्रेष्ठ व्यास उसके रचयिता हैं । यही नहीं चतुर्थ स्कंध में पुरंजनोपाख्यान, पंचम स्कंध में ऋषभदेव तथा जड़भरत की कथा, सप्तम स्कंध में अवधूत-ग्रहलाद-संवाद तथा एकादश स्कंध में अवधूत-दत्तात्रेयोपाख्यान ज्ञान-वैराग्य तथा भक्ति के प्रतिपादन के लिए रखे गए हैं । सनत्कुमार-पृथु-संवाद का स्वर भी 'तमवेहि सोऽस्मि' ही है । व्यास स्वयम् मुनि^२ हैं, परमहंस हैं अतः वक्ता, कर्ता तथा प्रतिपाद्य की दृष्टि से भागवत मुनि-संहिता है, परमहंस-संहिता है । गोस्वामी तुलसीदास ने भी मानस को वक्ता, श्रोता तथा प्रतिपाद्य की दृष्टि से मुनि-संहिता या परमहंस-संहिता ही बताना चाहा है, क्योंकि उनके पात्रों को पृच्छा बार-बार यही रही है—

मुनि-प्रभु कहहुँ सो तत्व बखानी ।

जेहि बिज्ञान मगन मुनि ज्ञानी ॥

भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा ।

मुनि सब बरनहु सहित बिभागा ॥ (भा० १।१११।१-२)

तुलसी के आदर्श कवि बालमोकि नहीं व्यास हैं । व्यासकृत भारत, भागवत तथा अध्यात्मरामायण भगवद्गुणों को विवक्षा से ही लिखी गई रचनाएँ हैं । ज्ञान-वैराग्य-भक्ति-प्रवण चित्त में ऐश्वर्य-रसरूप लीलाओं का अवतरण कराना ही उनका प्रयोजन है, अतः इतिहास को अपेक्षा ज्ञान, वैराग्य, भक्ति का वर्णन ही इनका अभीष्ट समझना चाहिए ।

* हिन्दी-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।

१- श्री मद्भागवत पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं

यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।

तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैऋत्यमाविष्कृतं

तच्छ्रवण्विपठनविचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥ (भाग० १२।१३।१८)

२- मुनीनामप्यहं व्यासः । (गीता १०।३०)

मुनिर्विबलुर्भगवद्गुणानां ।
 सखापिते भारतमाह कृष्णः ॥ (मा० ३।५।१२)
 मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई ।
 तेहि भग चलत सुगम मोहि भाई ॥
 व्यास आदि कविपुंगव नाना ।
 जिन सादर हरिसुजस बखाना ॥

तुलसी रामकथा को ऋषिप्रोक्त न कहकर मुनिप्रोक्त कहते हैं :—

बंदौँ मुनि पद कंज रामायन जेहि निरमएउ ।

यहाँ मुनि शब्द का प्रयोग सामान्य नहीं है। गोशामी जी ऋषि-मुनि का समानार्थक प्रयोग नहीं करते। वे दोनों शब्दों की परम्पराओं, बारीकियों से अच्छी तरह परिचित हैं। इसीलिए भरद्वाज, सुतोद्गण, सरभंग, सनकादिक संमी के लिए मुनि शब्द का व्यवहार मानस में हुआ है। मुनि-चर्या के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा है तभी तो भरतजी की नन्दीग्राम-साधना में उन्होंने इसका विवरण रुचिपूर्वक दिया है—

जटाजूट सिर मुनिपट धारी ।
 महि खनि कुस साँथरी सँवारी ॥
 असन बसन वासन व्रत नेमा ।
 करत कठिन रिषिधरम सप्रेमा ॥ (मा० २।३२३।३-४)

कैकेयी को भी 'मुनिपट भूषन भाजन आनी' के रूप में प्रस्तुत करते हुए (मुनिपट-चल्कल, भूषन-मेखला, भाजन-कमंडलु) गोशामी जी ने राम को मुनिवेश प्रदान किए जाने का समर्थन किया है। अरण्यकाण्ड तो मुनिकाण्ड ही है, क्योंकि रामजी की दण्डकयात्रा मुनियों के तप की रक्षा के लिये हुई है—

निसिचरनिकर सकल मुनि खाए ।

मुनि रघुबीर नयन जल छाए ॥

निसिचर हीन करौँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह ।

सकल मुनिन्ह के आश्रम, जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥ (मा० ३।१।१०)

इतना ही नहीं साधना में भी मुनि श्रेष्ठ और वरेण्य थे। कृष्ण चर्या में लोन मुनि सरभंग का अग्नि-प्रवेश देखकर ऋषियों का समूह प्रसन्न हुआ था ।

रिषिनिकाय मुनिवर गति देखी ।

सुखी भए सब हृदय विसेखी ॥ (मा० ३।१।३)

इन कथाओं का प्रयोजन पंडित मुनियों को वैराग्य प्राप्ति कराना है अतः अरण्य में रामजी की मुनिचर्या का वर्णन किया गया है यही नहीं वैराग्य की परम मूर्ति लक्ष्मण इसी काण्ड में ज्ञान, वैराग्य तथा भक्तियोग पर प्रश्न करते हैं तथा

राम उत्तर देते हैं। भागवत कथित ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा नैष्कर्म्य का विवेचन इस प्रसंग में हुआ है। परमहंसों की साधना-संहिता की ये ही चार विशेषताएँ कही गई हैं श्री राम भी कहते हैं—

धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना ।
 ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना ॥
 जाते बेगि द्रवौ मै भाई ।
 सो मम भगति भगत सुखदाई ॥

श्रीसुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्य सिद्धि में कहा है कि सच्चा परमहंस सम रहता है। उसका न प्रवृत्ति में आग्रह रहता है और न निवृत्ति में, वह तो दोनों का साक्षी है—

निवृत्तिमपि मृदनाति सम्यग् बोधः प्रवृत्तिवत् । (४।५६)

मैत्रेयी उपनिषद् में कहा गया है कि विषयों के रहने पर भी स्वस्थ संवेदन-शील संन्यासी निष्क्रिय तथा जड़ की तरह कार्य करता है। यही कारण है कि उसे मुग्ध मुनि कहा जाता है।

सान्निध्ये विषयापाञ्ची समर्थोऽविकलेन्द्रियः ।
 सुप्तवत् वर्तते यस्तु स मुग्धो मुनिरुच्यते ॥

राम भी नारद जी को संत के लक्षण बताते हुए परमहंस-संहिता की रूपरेखा पर प्रकाश डालते हैं तथा उक्त भाव का समर्थन करते हैं।

सुनु मुनि संतन के गुन कहऊँ ।
 जाते मै उन्हके बस रहऊँ ॥
 षड़ बिकार जित अनघ अकामा ।
 अचल अकिंचन सुचि सुखधामा ॥
 अमितबोध अनीह मितभोगी ।
 सत्यसार कबि कोबिद जोगी ॥

गुनागार संसार दुख रहित बिगत संदेह ।
 तजि मम चरन सरोज भ्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेइ ॥ (मा० ३।४५।६-११)

सम सीतल नहिँ त्यागहिँ नीती ।

सरल सुभाउ सबहिँ सन प्रीती ॥ (मा० ३।४६।२)

नैष्कर्म्य सिद्धिकार का सम्यग् बोध ही यहाँ 'अमित बोध' कहा गया है तथा निवृत्ति-प्रवृत्ति की साक्षी के लिये उसे 'सम-सातल' बताया गया है। अवधूतोप-निषद् में कहा गया है कि आत्मरूपाता में स्थित होने के कारण वह भिन्नाभिन्न-भावरहित कहा जाता है। यह दशा पंचमाश्रम कहलाती है—

आश्रमाणां च सर्वेषां अस्ति नास्ति न चात्मनः ।
भिन्नाभिन्नं न पश्यामि तस्याहं पंचमाश्रमम् ।

‘सम सीलल’ इसी भिन्नाभिन्न-भावरहित दशा का समानार्थी शब्द है। तुलसीदास “कहियत भिन्न न भिन्न” धारणा के मूल में मुनिभाव को सन्निहित मानते हैं। इसी प्रकार उत्तरकाण्ड में भी राम संतों की महिमा सुनाते हैं तथा सम स्थिति और भिन्नाभिन्न-भावरहित दशा का निरूपण करते हैं—

निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद कंज । (मा० ७।३८।९)

सम अभूतरिपु बिमद बिरागी ।
लोभाभरण हरष भय त्यागी ॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया ।
मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥ (मा० ७।३८।२३)

भगवान् ने भी ऐसा ही कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांचति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्वभक्तिं लभते पराम् ॥

मानस का प्रतिपाद्य पंचारात्र संहिताओं से समर्थित है। भागवत भी पांच रात्र का पोषक ग्रन्थ है अतः प्रतिपाद्य की दृष्टि से भी दोनों मुनि-संहिताएँ हैं। गोस्वामी जी के आगमन का अर्थ इन्हीं मुनिभाषित संहिताओं में संक्रमति हो जाता है। इसीलिए वह ऋषि की अपेक्षा भरद्वाज, अगस्त्य, सुतीक्ष्ण, शरभंग तथा नारद के लिए मुनि शब्द का प्रयोग सर्वत्र करते हैं, ईश्वर-संहिता में पांचरात्र के वक्ताओं को मुनिपुंगव ही कहा गया है, ऋषि नहीं—

अध्यापयामास यतस्तदेतन्मुनिपुङ्गवाः ।

शास्त्रं सर्वजनेल्लोके पंचरात्रमितीर्यते ॥

जयाख्य संहिता के प्रथम अध्याय में भी शांडिल्य, भरद्वाज तथा मौंजायन को मुनि कहा गया है।

शाण्डिल्यश्च भरद्वाजो मुनिमौञ्जायनस्तथा ।

इमे च पञ्च गोत्रस्था मुख्याः काण्वीमुपाश्रितः ।

श्रीपाञ्चरात्रतंत्रीये सर्वेऽस्मिन् मम कर्मणि ॥

राम कथा के प्रथम वक्ता वाल्मीकि तथा अपर वक्ता व्यास भी मुनि ही कहे गए हैं। मूल वेदयत्री से पृथक् सर्वांगिरस, भृगु से संबद्ध होने के कारण भृग्वंगिरस भी कहलाता है। वाल्मीकि भी भृगुवंशी कहे गए हैं। शान्तिपर्व में भृगुपुत्र कश्यप के पुत्र वाल्मीकि को भार्गव कहा गया है—

श्लोकरचायं पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना ।

आख्यताते रामचरिते नृपतिं प्रति भारत ॥ (५७।४०)

अतः मुनियों का, वातरशना मुनियों का, ब्रत्यों का उल्लेख करनेवाला अथर्व उन भार्गवों की सम्पत्ति बहा गया है जो रामकथा के प्रथम गायक थे। वाल्मीकि भार्गव थे, इसलिए तुलसी ने उनके लिए मुनि शब्द का व्यवहार किया है। व्यास के लिये तो आदिपर्व (५६।३२) में 'कृष्ण द्वैपायनो मुनिः' आया ही है भरद्वाज को पांचरात्र मुनि कहते हैं तथा काकभुशुण्ड भी मुनि ही हैं, क्योंकि भुशुण्डी रामायण में वह पांचरात्र मुनि शाण्डिल्य को रामकथा सुनाते हैं। आदि रामायण, ब्रह्म-रामायण और भुशुण्डीरामायण के वक्ता काकभुशुण्ड कहे गये हैं। शिव के संग तथा राम जन्मोत्सव पर उपस्थित होने से उन्होंने लोलारस का आस्वादन भी किया था। शिव के सान्निध्य से ही सीताराम की माधुर्यलीलाओं में उनका प्रवेश संभव हो सका। भुशुण्डीरामायण के अनुसार पार्वती-शिव राम-सीता की विवाहपूर्व तथा विवाहोत्तर लीलाओं के उद्बोधक हैं। अतः तुलसी ने रामकथा की मुनि-परम्परा को ही वक्ता-श्रोता के रूप में, प्रारम्भिक अवसरणिका में प्रस्तुत किया है।

संभू कीन्ह यह चरित सुहावा ।

बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा ॥

सोइ सिव कागभुसुंड़िहि दीन्हा ।

रामभगत अधिकारी चीन्हा ॥

तेहि सन जागवलिक पुनि पावा ।

तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा ॥

ते श्रोता बक्ता सम सीला ।

सबदरसी जानहिं हरिलीला ॥

राम कथा और कृष्ण कथा कहने के अधिकारी की दो विशेषतायें बताई गई हैं—(१) समदृष्टि तथा (२) लोलारस की मर्मज्ञता (ये दोनों विशेषतायें भक्तियोग में अन्तर्निहित होती हैं)। अतः अमलात्मा परमहंसों को भक्तियोग की दीक्षा के लिए ही भगवान् अवतार लेते हैं—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।

भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥ (भा० १।८।२०)

तुलसी भी मानसवर्णित कथा को परमहंस मुनियों के लिए विश्रामदायक तथा रंजक बताते हुए समत्व तथा समज्ञता का ही समर्थन करते हैं—

बुध विश्राम सकल जन रंजनि ।

रामकथा कलि कलुष बिभंजनि ॥ (भा० १।३।१५)

मुनियों को विश्राम तब मिलेगा जब ब्रह्मलोक को भी वृणतुल्य समझकर छोड़ देंगे। वैराग्य की यह चरम परिणति है—

ब्रह्मलोकवृणीकारी वैराग्यस्यावधिर्मतः । (पञ्चदशी १५५)

ज्ञान मान जहँ एकद नहीं ।
देख ब्रह्म समान सब माँही ॥
कहिअ तात सो परम बिरागी ।
तुन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी ॥

राम भक्ति में दृढ़ता इसका लक्ष्य है, अतः निर्वाणादि की अपेक्षा परमहंस] मुनि भक्ति के ही इच्छुक दिखाई पड़ते हैं। 'जन्म जन्म रति रामपद' ही उनका कान्य है। और उनकी कृतकृत्यता केवल इस बात की सिद्धि में है कि 'उपजी राम भगति दृढ़, बीते सकल कलेस।'।

तुलसीदास जी व्यास जी की ही तरह यह मानते थे कि प्राचीन काल में साधना भेद से ऋषिधारा तथा मुनिधारा पृथक्-पृथक् अस्तित्व में थीं। मार्कण्डेय-पुराण भी कहता है कि परमेश्वरी ब्रह्मा से ऋषियों ने वेद ग्रहण किया था तथा मुनियों ने वेद से इतर ग्रहण किया। पुराण-आगम इसी इतरधारा के प्रवाह हैं। परमेश्वरी-कृत होने से दोनों प्रमाणा हैं।

वेदान् सप्तर्षयस्तस्माज्जागृहुस्तस्य मानसाः ।

पुराणं जगृहुश्चाद्य मुनयस्तस्य मानसाः ॥ (४५।२३)

आचार्य शंकर ने भी सनत्सुजातीय के (२२।१२) भाष्य में 'न केवलं वेदा अपि तु मुनयोऽपि तद् ब्रह्म विश्ववैरूप्यं विश्वरूपविपरीतस्वरूपमुदाहरन्ति' लिखकर मुनिवाक्य को प्रमाण माना है। अतः गोत्वामीजी मानस में संत-पुराण-उपनिषद् की चिन्तनधारा को ज्ञान, वैराग्य, भक्ति को, मुनिसंहिता के रूप में प्रस्तुत करते हैं तथा कर्मकाण्ड को ऋषिसंहिता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वैदिक संहिताओं का आप्रह् निर्विशेष निराकार के प्रति है और मुनिसंहिताओं का सविशेष साकार के प्रति। मुनि सुतीक्ष्ण के गुरु मुनि अगस्त्य इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनन्ता ।

अनुभवगम्य भजिहँ जेहि संता ॥

अस तव रूप बखानौ जानौ ॥

फिरि-फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौ ॥ (भा०३।१३।१२-१३)

भागवत वक्ता प्रतिपाद्य की दृष्टि से ही परमहंस संहिता नहीं, श्रोता की दृष्टि से भी परम हंस संहिता है। संसाररूपी सर्प से दंशित परीक्षित को भ्रममुक्त कराकर स्वरूप में स्थित कराने का कार्य परमहंस शुक्रदेव ने किया था।

योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे ।

संसार सर्प दंष्ट्र यो विष्णुरातमसमुचत् ॥ (भा०१२।१३।२१)

मानस के वक्ता और प्रतिपाद्य परमहंसों के अनुरूप तो हैं ही, श्रोता भी परमहंस की अर्हता से सम्पन्न हैं। गिरिजा, भरद्वाज, गरुड तथा भक्त संसारी

सर्प दंशित हैं। इन्हीं की मुक्ति के लिए शिव, याज्ञवल्क्य, काकभुशुंड तथा तुलसी कथा कहते हैं।

चिंता साँपिनी को नहीं खाया ।
को जग जाहि न व्यापीमाया ॥
राम कथा कलि पन्नग भरनी ।
पुनि बिबेक पावक कहूँ अरनी ॥ (मा० १।३१।३)

अन्त में काकभुशुंड के द्वारा यह घोषणा दृढ़ता के साथ करा दी जाती है—
सिख अज सुक सनकादिक नारद ।
जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद ॥
सब कर मत खगनायक एहा ।
करिअ रामपद पंकज नेहा ॥ (मा० ७।१२२।१२१३)

मानस के व्याख्याताओं ने श्रुति, पुराण तथा आगम के परिप्रेक्ष्य में विचार किया है। मानस की आगमिक व्याख्या भी होने लगी है। यमुनाचार्य ने पांचरात्र को प्रमाण मानने के लिए एक हेतु यह दिया था कि वह नारायण द्वारा उद्गीत है तथा नारद ने उसे मुनियों के प्रति कहा है।

नारायण मुखोद्गीतं नारदो श्रावयन्मुनीन् ।

ब्रह्मणस्सद्ने तात ! यथा दृष्टं तथा श्रुतम् ॥ (आगम प्रामाण्य १४)

गोस्वामीजी ने भी मानस को प्रमाणित करने के लिए यही हेतु जुटाया है उनका ग्रन्थ शिवप्रोक्त है, गिरिजा द्वारा सुना गया है तथा उसमें वासुदेवमत या भागवतधर्म का प्रतिपादन किया गया है। अतः मानस आगम है और आगम होने से प्रमाण है। भारतीय चिन्ताधारा के वह सर्वथा अनुरूप है। मानस के इस विधान में महास्वच्छन्द तन्त्र की ये पंक्तियां उनका मार्गदर्शन कर रही थीं—

आगतं पंचवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने ।

मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते ॥

अस्तु, कहा जा सकता है कि मानस मुनिसंहिता है जो आगमिक धारा से जुड़कर स्वतः प्रमाण हो गई है। ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति का ऐसा आकर-ग्रंथ केवल भागवत ही है। अतः कोई परमहंस-संहिता भागवत के समान ही मानस को भी परमहंस-संहिता कहना चाहे तो निस्संकोच कह सकता है।



मानसकार की सजग कलात्मक दृष्टि

डा० किशोरी लाल

गोस्वामी तुलसीदास की साहित्यिक सृजना का मूल उद्देश्य मङ्गल-विधान और शिवत्व प्रतिपादन है, परन्तु इसके साथ ही उनकी कलात्मक दृष्टि भी अत्यन्त सजग है और यदि सम्यक् रूप से विचार किया जाय तो उनकी कलात्मकता उनके उद्देश्य की ही पूरक है। वास्तव में तुलसी के कलाकार रूप ने ही उनके भक्त, दार्शनिक या उपदेष्टा रूप को ऊँचाई दी है।

यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास की समस्त साहित्यिक सृजना मङ्गल-विधायक एवम् शिवत्व की प्रतिपादक है, किन्तु ऐसा नहीं लगता कि उन्होंने सुन्दरम् या कलात्मकता की उपेक्षा की हो। वस्तुतः सुन्दरम् उनके शिवत्व का पूरक है और सच्चे अर्थों में 'रामकथा जगमंगल करनी' का उद्घाटक। इस तथ्य पर ठीक से विचार न करने के कारण तुलसीदास के कवि व्यक्तित्व की प्रायः अवमानना की गई है और उन्हें भक्त, उपदेष्टा तथा दार्शनिक आदि के रूपों में ही देखा गया है। पर सत्य तो यह है कि तुलसीदास के साहित्यिक या कलाकार के व्यक्तित्व ने ही उनके भक्ति तत्व को गहराई दी है, उनके दार्शनिक चिन्तन को प्रौढ़ता प्रदान की है और उनकी मांगलिक दृष्टि को अनेक नूतन एवम् विराट भाषाओं से संकलित किया है।

मध्यकाल में गोस्वामी जी से भी बड़े सन्त और साधक हुए होंगे, पर आज उन्हें कौन जानता है ? किन्तु गोस्वामी जी की अलौकिक काव्य प्रतिभा ने सारे साधकों, सन्तों और दार्शनिकों को दबा कर जिस गति से आगे बढ़ने का प्रयास किया वह अपने आपमें अप्रतिम है, बेजोड़ है। इस बात को और स्पष्ट शब्दावली में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि उनकी कलात्मक एवम् भक्ति-मूलक चेतना परस्पर इतनी घुल-मिल गई है कि जहाँ कहीं उनके भक्तित्व की भीमांसा की जाती है, वहाँ उनकी प्रौढ़ एवम् सजग कलात्मकता स्वतः उभर आती है और जहाँ उनकी कलात्मक-साधना को विश्लेषित करने की चेष्टा की जाती है, वहाँ अनायास ही भक्ति एवम् मंगल-स्रोत सहज रूप में फूट पड़ते हैं। यों 'भनिति भदेस बस्तु भल बरनी' कहकर गोस्वामी जी बार-बार 'भनिति' को गौण स्थान देते हैं, पर क्या उनके रचना-शिल्प के सम्बन्ध में कभी-प्रश्न वाचक चिन्ह लगाया जा सकता है और क्या 'रामचरित मानस कवि तुलसी' कहने वाला मात्र सन्त ही था, कवि नहीं था ? इसका सङ्ग उत्तर होगा कि गोस्वामी जी अपने युग के एक ऐसे प्रौढ़

❀ हिन्दी प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

रचनाकार थे जिनके जोड़ का दूसरा कवि पुंगव या कलाकार आज भी देखने को नहीं मिला तथा हरिऔध जी के शब्दों में कहना चाहें तो यही कहना पड़ेगा कि—

‘कविता करके तुलसी न लसे कविता लसि पा तुलसी की कला ।’

निश्चय ही तुलसीदास अपने ही युग के नहीं आगे आनेवाले युग के कवि कलाकारों के मंडन थे—शृंगार थे और काव्य-रचना के प्रकृत प्रेरक । गोस्वामीजी की भाव-व्यंजना उनकी मार्मिक युक्तियों, उनकी शैलीगत भंगिमा का कितना प्रभाव आगे आनेवाले कलाकारों पर पड़ा यह अपने आप में एक शोध का विषय है ।

मानस के आरम्भ में ही गोस्वामी जी ने काव्य के अन्तरंग एवम् बहिरंग तत्वों का स्पष्ट संकेत इस प्रकार किया है—

वर्णनामर्थसङ्घानां ‘रसानाम्’, छन्दसामपि ।

मङ्गलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ ॥’

मानसकार की सजग कलात्मक दृष्टि ने सबसे पहले ‘वर्णानाम्’ की चर्चा की है पश्चात् ‘अर्थसङ्घानाम्’ रसानाम् और अन्त में ‘छन्दसामपि’ के साथ ‘मङ्गलानाम्’ का उल्लेख किया है । महत्व की बात तो यह है कि सरस्वती के बाद ही गणेश का स्मरण किया गया है । इससे मानसकार की काव्य चेतना और मङ्गल-विधायक तत्वों की गम्भीरता का भी सम्यक् बोध हो जाता है । काव्य में मङ्गल तत्व को प्रथम स्थान न देकर कवि ने द्वितीय स्थान दिया है और मङ्गल विधायक-गणेश का नाम काव्य की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के बाद जोड़ा गया है । बात भी सत्य है, गोस्वामी जी ने सारस्वत-साधना को वरीयता दी है और काव्य के ही माध्यम से मङ्गल तत्व की अभिव्यक्तिकी है तथा इसके कारण काव्यात्मक स्मारक से सम्पृक्त मङ्गल तत्व ‘मणि कांचन संयोग’ की भाँति सहज संप्रेषणीय एवम् सुग्राहक बन गया है । अब विवेचनीय यह है कि गोस्वामी जी ने सर्वप्रथम काव्य में वर्णों को महत्ता क्यों स्वीकार की ? इस सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने अन्यत्र कई स्थानों पर संकेत किया है—

१. सुगत अगम मृदु मंजु कठोरे ।

अरथ अमित अति आखर थोरे ॥

२. कबिहि अरथ आखर बल साँचा ।

अनुहरि ताल गतिहि ना नाचा ॥

३. आखर, अरथ अलंकृति नाना ।

छन्द प्रबन्ध अनेक बिधाना ॥

१. रामवरिन मानस-कशिराज संस्करण-पुं. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

वास्तव में वर्ण यहाँ अपने विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और वह एक व्यापक अर्थ का बोधक है। यदि यह कहा जाय कि वर्ण और अर्थ समूह भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' का पर्याय है तो यह भी बात ठीक जमती नहीं। लगता है कि गोस्वामी जी ने ध्वनि एवम् वक्रोक्तिवादी आचार्यों की भाँति वर्ण की व्यापक स्थिति को स्वीकार किया है क्योंकि उनके अनुसार वर्ण शब्द को, शब्द पद को पद वाक्य को वाक्य प्रकरण को, प्रकरण प्रबन्ध को इस प्रकार पकड़े रहता है कि उनका अन्तर्सम्बन्ध तोड़ा नहीं जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानस में वर्ण-वर्ण में व्याप्त माधुर्य, शब्द-शब्द में विखरी अर्थ छवि और स्थल-स्थल में प्राप्त प्रबोध ध्वनि गोस्वामी जो जैसे उच्छोक्ति के कलाकार की सजगता का सच्चा प्रमाण है।

गोस्वामी जी ने 'अर्थ सङ्धानाम्' का स्पष्ट संकेत प्रायः नहीं किया। अतः मानस के आलोचक इस सम्बन्ध में अपनी-अपनी दृष्टि से विचार करते हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि कदाचित् अर्थसङ्धानाम् से तात्पर्य शब्द शक्तियों से था जिनका स्पष्ट संकेत 'धुनि अवरेष कवित गुण जाती' के रूप में किया गया है। मानस में तुलसीदास ने प्रायः ऐसे-ऐसे कथा प्रसंगों का उल्लेख किया है। जिनमें कहीं गूढ़ और कहीं अगूढ़ व्यंग्य एवम् ध्वनि तत्त्व की पूर्ण व्याप्ति है। ऐसे प्रकरणों से गूढ़ भाव-व्यंजन का बोध तो होता ही है साथ ही गोस्वामी जी की अतल-स्पर्शी गंभीर कलात्मक चेतना की क्षमता का भी अनुमान लगाया जा सकता है। मानस के अनेक स्थल गूढ़ व्यंग्य भावों की छवियों से दीप्त हैं और इस प्रकार ध्वनि एवम् व्यंग्यार्थों द्वारा गोस्वामी जी ने अपनी असाधारण काव्य प्रतिभा का ज्वलन्त प्रमाण दिया है। इस तथ्य की संपुष्टि के लिए मानस की कुछ रचनाएँ उद्धृत की जा रही हैं। पहले बाल काण्ड का एक दोहा लें। इसमें कपटी मुनि ने भानु प्रताप को जिस ढंग का उत्तर दिया उसमें लक्षण सूत्रक गूढ़ व्यंग्य सहज रूप में प्रयुक्त हुआ है :-

एवमस्तु कहि कपट-मुनि, बोला कुटिल बहोरि ।

मिलब हमार मुलाव-निज, कहहु त हमहिँ न खोरि ॥'

इसमें 'कुटिल' शब्द के अन्तर्गत गूढ़ अर्थ पूर्णतया सन्निहित है और इसका स्पष्ट आशय यह है कि किस प्रकार एक दगाबाज दूसरे दगाबाज के रहस्य को समझता है। कपटी मुनि यह जानता है कि राजा का मंत्री भी चतुर और दगाबाज है यदि वह उससे सारी बात बता देगा तो मेरी भी कलाई खुल जायगी, अतः वह राजा भानु प्रताप से उसे न बताने के लिए व्रजन करता है। इसी प्रकार अब अत्यंत विरक्त वान्यध्वनि या विपरीत लक्षण विषयक एक अधोली लें—

१—रामचरित मानस—काशिराज संस्करण १।१६५।१९-१०

करहिँ कूटि नारदहि सुनाई ।
 नोकि दीन्हि हरि सुन्दरताई ॥
 रोमिहि राजकुँअरि छवि देखी ।
 इन्हहि बारिहि हरि जानि बिसेषी ॥^१

यहाँ 'नोकि दीन्हि हरि सुन्दरताई' पद में मुख्यार्थ का बाध है और विपरीत लक्षण से इसमें कुरुपता व्यंजित है। हरि शब्द कपि आकृति की ओर भी संकेत कर रहा है।

अब अर्थाकार संक्रमित अगूढ़ व्यंग्य का एक नमूना लें—

देवि पूजि पद-कमल तुम्हारे ।
 सुरनर मुनि सब होहिँ सुखारे ॥^२

पार्वती के प्रति कथित इस वाक्य में सीता जी का संकेत है कि जब आपका पूजन करके सभी प्रसन्न हो जाते हैं तब मेरी भी इच्छा पूरी होगी। इस दृष्टि से इसमें अर्थान्तर संक्रमित अगूढ़ व्यंग्य है।

इसी प्रकार 'गुणोभूत व्यंग्य' के भी अच्छे नमूने प्राप्त होते हैं। तद्विषयक एक अर्वाली इस प्रकार है—

सखीँ कहहिँ प्रभु-पद गहु सीता ।
 करति न चरन परस अति भीता ॥^३

सखियाँ सीता जी से राम का चरण-स्पर्श करने लिए कह रही हैं, पर सीता उस भय से उनके चरणों को स्पर्श नहीं करती कि हाथों में पदनों हुई रत्न जड़ित अँगूठियाँ कहीं स्त्रो न हो जायँ। 'भीता' शब्द इसी गुणोभूत व्यंग्य को प्रकट कर रहा है।

'गुणोभूत व्यंग्य' के साथ ही इसी प्रसंग में अस्फुट गुणोभूत व्यंग्य भी लिपटा हुआ है—

गौतम-तिथ गति सुरति करि, नहि परसति पग पानि ।
 मन बिहँसे रघुवंसमनि, प्रीति अलौकिक जानि ॥^४

अद्वैत्या की गति स्मरण करके सीता रामचन्द्र के चरणों को स्पर्श नहीं करती। इस वाक्य में अस्फुट गुणोभूत व्यंग्य विद्यमान है। आशय यह है कि

१—रामचरित मानस-१।१३४।४

२—रामचरित मानस-१।२३६।२

३—रामचरित मानस-१।२६५।६

४—रामचरित मानस-१।२६५। ९-१०

हाथों और सिर के आभूषणों में जड़ित रत्न के स्पर्श से यदि अनेक सुन्दर स्त्रियाँ बन जाएगी तो पति का प्रेम सीता जी के प्रति न्यून हो जाएगा ।

जहाँ व्यंग्यार्थों में तुलसीदास की गहरी अन्तर्दृष्टि और उनकी कलात्मक प्रौढ़ि का सुन्दर परिचय मिलता है, वहीं चतुर शब्द-शिल्पी के रूप में उनकी काव्य प्रतिभा और सर्जनात्मक क्षमता का भी सम्यक् बोध होता है वे केशवदास की भाँति केवल शब्द-ज्ञान का चमत्कार प्रदर्शित करने वाले कवि न थे, अपितु कल्पना के अनेक चित्रों, को भावों के विशाल फलक पर अंकित करने वाले एक सच्चे कवि और कलाकार थे ।

आलंकारिक प्रयोगों में अर्थ की रमणीयता के साथ ही कवि की सरस कल्पना और उत्किगत भंगिमा और वक्रता का विधान अपने आप में नितान्त अनूठा और मौलिक है । उत्किगत वक्रता को रूपक के साँचे में ढाल कर कवि ने असीम भाव-व्यंजना को कितना प्रभविष्णु बना दिया है, यह इस दोहे से स्पष्ट है—

वक्र उक्ति धनु बचन सर, हृदय दहेउ रिपु कीस ।

प्रतिउत्तर सड़सिन्ह मनहुँ काढ़त भट दससीस ॥^१

साङ्गरूपकों के प्रयोग में तो उनकी समता का कोई दूसरा कवि नहीं मिलता । लाला भगवानदीन जी तो उन्हें रूपकों का बादशाह कहा करते थे । लम्बे-लम्बे रूपकों के निर्वाह में कहीं वे चूकते न थे, ऐसा यत्न-साधित कौशल अम्यंत्र विरल है रूपक की भाँति अनेक संश्लिष्ट बिम्बों की सृष्टि में उत्प्रेक्षा का भी चमत्कार कई स्थलों पर देखने को मिला है—जयमाल डालते समय का एक चित्र द्रष्टव्य है—

सोहत जुनु जुग-जलज सनाला ।

ससिहि समीत दैत जयमाला ॥^२

कमल का चन्द्रमा से डर जाना असिद्ध है, क्योंकि वह जड़ है । इस अहेतु को रूप में कल्पित करने में असिद्ध विषया हेतुत्प्रेक्षा अलंकार है ।

इसी प्रकार 'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े' में कारक दीपक और 'शंभु चाप बड़ बोहित पाई' में तुल्ययोगिता का प्रयोग कवि के अतिरिक्त नैपुण्य का प्रमाण है । मानस में ऐसे न जाने कितने अलंकार भरे पड़े हैं, जिनमें कवि की कल्पना एवम् सौन्दर्य मूलक दृष्टि के अनेक रूपों का दर्शन होता है ।

१—रामचरित मानस—६।२३।१९।२०

२—रामचरित मानस—१।२।४।७

गोस्वामी जी के काव्य वैभव का प्रकृत उत्कर्ष उनकी भाव व्यंजना एवम् अनेक अनुभूतात्मक चित्रों में लक्षित होता है। उन्होंने 'रसाना' का स्पष्ट संकेत—'भावमेद रसमेद अपारा' के द्वारा किया। भावों की पकड़ और मनः स्थितियों के निरूपण में उनकी जैसी सजगता अन्य कवियों में दृष्टिगत नहीं हुई। वे भावुक, संवेदनशील होने के साथ ही मर्यादावाद के प्रबल समर्थक थे। उनकी मर्यादावादिता शृंगारिक चित्रों में भी कभी तिरोहित नहीं हुई, वे सदैव उसके प्रति सजग रहे। कभी कभी शृंगारिक परिवेश में उनके संचारी भाव भी इतने उभर कर आए हैं कि उनके कारण समस्त रस चक्र अनूठी दोप्ति से चमक उठा है। शृंगारिकता का एक ऐसा चित्र लीजिये, जिसमें ग्रीडा और चपलता-संचारी के साथ ही अनूठा अनुभाव-विधान मर्यादावाद के सूत्रों में दृढ़ता पूर्वक आवद्ध है—

प्रभुहिचितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल ।

खेलत मनसि जमीन जुग जन् बिधुमंडल डोल ॥^१

तुलसीदास केवल परिपाटीबद्ध काव्य रचना के अनुगत नहीं थे, बल्कि उन्होंने पुराने भाव चित्रों को नये ढंगसे प्रस्तुत किया है, इस कारण वे मानचित्र नितान्त मौलिक और अनुपम जैसे लगते हैं। उदाहरण के लिये पुष्पवाटिका में राम और सीता का मिलन विषयक चित्र लिया जा सकता है। सीता जी जब राम के सौन्दर्य को देखती हैं तो सर्वथा भाव-विभोर हो जाती हैं और उनकी उस अलौकिक छवि को अपने हृदय-पटल पर अंकित कर लेती हैं। तुलसीदासने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

लोचन-मग रामाह उर आनी ।

दीन्हे पलक कपाट सयानी ॥^२

'सयानी' शब्द विशेष भाव का व्यंजक है। राम को सीता ने हृदय की कोठरी में बन्दकर दिया और जल्दी से पलक रूपी दरवाजा इसलिए लगा लिया कि निकल कर वे भाग न जायँ। इधर राम ने भी सुख-सनेह-सोभा-गुन-खानी की छवि को अपने मानस पटल पर उस समय अंकित किया जब वह राम से वियुक्त होकर जाने लगी—

प्रभु जब जात जानकी जानी ।

सुख - सनेह सोभा - गुन - खानी ॥

परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही ।

चारु चित्त भीती लिखि लोन्ही ॥^३

१—रामचरित मानस-१।२५।१०

२—रामचरित मानस-१।२१२।७

३—रामचरित मानस-१।२३५।२-३

मानस के अधिकांश टीकाकारों ने 'चार' का अर्थ सुन्दर लगाया है, किन्तु यदि 'चार' को संख्यावाचक चार के रूप में ग्रहण किया जाय तो सुख, सनेह, सोमा, गुनखानी की संगति ठीक ढंगसे बैठ जाती है। जानकी के इन्हीं चार गुणों को राम ने मानस-प्राचीर में प्रेम रूपी स्याही से अंकित कर लिया।

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी अपनी सजग कलात्मक दृष्टि के कारण कहीं स्खलित नहीं हुए। वे भाव-चित्रों को उरेहने में कल्पना के अनेकशः नव्य रूपों के विन्यास में, अनुभूतियों के सजीव चित्रण में बहुत आगे हैं और इतने आगे हैं कि वहाँ तक पहुँचना एक चतुर काव्य-शिल्पी के लिए भी बहुत संभव नहीं है।



कविता है या गोसाईं की-

सोकभच्छिता है यहि लोकदच्छिता है पर-

लोकरच्छिता है सिच्छिता है सब ठाई की ।

प्रीति की पिता है अनरीति की चिता है पर-

तीतिसंचिता है चर्चिता है काल खाई की ।

भाषत 'प्रधान' दिलदोष दरिता है रस-

रूपभरिता है सरिता है संभु साईं की ।

मुक्तिगर्विता है राममक्ति भविता है बिस्व-

हेतु सविता है कविता है या गोसाईं की ॥

रामचरित मानस के प्रमुख वक्ता :

याज्ञवल्क्य

(व्यक्तित्व, कृतित्व और तत्त्व चिन्तन)

—डा० शारदाप्रसाद शर्मा*

याज्ञवल्क्य रामचरितमानस के मुख्य वक्ता माने जा सकते हैं और कुछ लोग तो ऐसा भी विश्वास करते हैं कि गो० तुलसीदास ने याज्ञवल्क्य-भरद्वाज संवाद का साक्षात्कार प्रयाग में किया था। याज्ञवल्क्य के सन्दर्भ में स्मृतियों में बहुत कुछ है, लेकिन उनका सम्पूर्ण चरित्र एक साथ एक स्थान पर उपलब्ध नहीं। अतः इस प्रकार की सामग्री विशेषकर हिन्दी में मानस प्रेमियों की जिज्ञासा के लिये अपेक्षित थी। प्रस्तुत लम्बे शोधपूर्ण निबन्ध में यथासम्भव अधिक से अधिक जानकारी महर्षि याज्ञवल्क्य के बारे में एकत्रित करने का प्रयत्न किया गया है।

व्यक्तित्व

याज्ञवल्क्य प्राचीन भारत के महान चिंतक और लोकनायक थे। वह ज्ञानी, कर्मठ और अन्यतम उपासक थे। वह सत्य-द्रष्टा ऋषियों में परिगणित हैं। उनका यजुर्वेद की एक महत्वपूर्ण शाखा, वाजसनेयि संहिता के प्रवर्तक के रूप में स्मरण किया जाता है। शंकराचार्य ने उन्हें चारों वेदों का ज्ञाता स्वीकार किया है।^१ उनके युग में चिंतनगत या साधनापरक जो बिखराव या असंगति की स्थिति थी, उसे सही दिशा प्रदान करने में उनका अत्यधिक महत्व माना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने याज्ञवल्क्य के इस नेतृत्व की महत्ता की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि “कर्म, ज्ञान, उपासना—लोकधर्म के ये तीन अवयव समाज की स्थिति के लिए बहुत प्राचीन काल से भारत में प्रतिष्ठित हैं। मानव-जीवन की पूर्णता इन तीनों के मेल के बिना नहीं हो सकती। पर देश-काल के अनुसार कभी किसी अवयव की प्रधानता रही कभी किसी की। यह प्रधानता लोक में जब इतनी प्रबल हो जाती है कि दूसरे अवयवों की ओर लोक की प्रवृत्ति का अभाव सा होने लगता है, तब साम्य स्थापित करने के लिए शेष अवयवों की ओर जनता को आकर्षित करने के लिये कोई न कोई महात्मा उठ खड़ा होता है। एक बार जब कर्मकाण्ड की प्रबलता हुई तब याज्ञवल्क्य के द्वारा उपनिषदों के ज्ञान-काण्ड की ओर लोग

*अधिवक्ता, मुख्य न्यायालय महाराष्ट्र, बम्बई।

१-बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, ३।१।२

प्रवृत्त किये गये।" स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने याज्ञवल्क्य का जन-समाज की स्थिति में साम्य स्थापित करने के लिए आदरपूर्वक स्मरण किया है। महाभारत में याज्ञवल्क्य और जनमेजय के गुरु-शिष्य संबंध की महत्वपूर्ण चर्चा पायी जाती है। भागवत पुराण ने भागवत ज्ञानियों-वक्ताओं की परम्परा में योगिराज याज्ञवल्क्य का उल्लेख किया है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के महत्व का वर्णन करने के पूर्व उनके जीवन से सम्बन्धित बातों की जानकारी वांछनीय है। इनके विषय में कई कहानियाँ कई ग्रंथों में पाई जाती हैं; और उनमें इनकी जीवनी के बारे में भिन्न-भिन्न बातें लिखी गई हैं। उनमें से कुछ कहानियाँ इस प्रकार हैं—

स्कन्दपुराण में हाटकेश्वर क्षेत्र के माहात्म्य के प्रसंग में लिखा है कि एक बार ब्रह्माजी ने यज्ञ करने का संकल्प किया। उनकी पत्नी सावित्री को यज्ञ के नियत समय पर आने में विलम्ब होने लगा और शुभ मुहूर्त के बीत जाने की संभावना दिखाई देने लगी। अतः इन्द्र को चिन्ता हुई और उन्होंने एक गोपकन्या लाकर कहा कि इसका पाणिग्रहण करके पत्नी के साथ यज्ञ आरम्भ कीजिये; क्योंकि बिना पत्नी के यज्ञ नहीं किया जा सकता था। इसलिये उन्होंने उसे गाय के मुख में डालकर और फिर गायप्रसूत बनाकर शुद्ध किया तथा उससे वाह करके उन्होंने यज्ञारम्भ कर दिया। इस पत्नी को 'गायत्री' कहा गया। इसके बाद सावित्रीजी आर्यी और अन्य स्त्री के साथ यज्ञ करते देख उन्हें अपना अपमान महसूस हुआ और क्रोध हो आया। उन्होंने ब्रह्मा को श्राप दिया कि तुम मनुष्य योनि में जन्म लो और कामी बनो।

कालान्तर में चारण ऋषि के यहाँ ब्रह्मा ने याज्ञवल्क्य के रूप में जन्म लिया। सावित्री के श्राप के कारण तरुणावस्था में याज्ञवल्क्य अत्यन्त कामोन्मत्त हो उठे। इनकी कामान्धता से पिता को महान कष्ट होने लगा और अन्त में उन्होंने इन्हें घर से निकाल दिया। इनकी अवस्था धीरे-धीरे पागलों जैसी हो गयी। दर-दर की ठोकरें खाते ये शाकल्य ऋषि के आश्रम में पहुँचे। शाकल्य को इनपर दया आयी और उन्होंने इन्हें अपने आश्रम में रख लिया। यहाँ याज्ञवल्क्य ने वेदाध्ययन किया। एक बार आनर्त देश के राजाने चातुर्मास्य व्रत का अनुष्ठान किया और शाकल्य को अपना पुरोहित बनाया। प्रतिदिन शाकल्य पूजा के उपरान्त अपने किसी शिष्य के द्वारा अभिमंत्रित जल-अक्षत राजा के पास राजप्रासाद में भोजन दिया करते थे। एक दिन याज्ञवल्क्य की बारी आयी। वह अभिमंत्रित जल अक्षत लेकर राजप्रासाद पहुँचे, उस समय राजा सुन्दर चित्रियों के साथ विलासरत था उसने कहलवा दिया कि वह अक्षत-जल पास पड़े काष्ठ खण्ड पर रखकर चले जायँ। याज्ञवल्क्य को इस कार्य से न अपना, वरन् आर्शीवाद-

१-तुलसी-सं० उदयभानु सिंह, पृ० १६५ से उद्धृत।

राक्षस अक्षत-जल का और पूरे विधान का भी अपमान महसूस हुआ। अप्रसन्नता के साथ उन्होंने अक्षत-जल पास की लकड़ी पर फेंक दिया और वापस चले आये। दूसरे दिन राजा ने आश्चर्यपूर्वक देखा कि उस लकड़ी में से नये पत्ते प्रकट हो गये हैं। अन्य शिष्यों द्वारा लाये गये अक्षत-जल को वह इसी प्रकार लकड़ी पर रखवा लेता था, लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ था। उसने सोचा कि यदि वह अभिमन्त्रित जल मेरे ऊपर पड़ा होता तो मैं कैसा बन गया होता। उसे बड़ा पश्चात्ताप होने लगा। उसने शाकल्य ऋषि से प्रार्थना की कि अभिमन्त्रित अक्षत-जल याज्ञवल्क्य द्वारा ही भेजें। शाकल्य ने याज्ञवल्क्य को आदेश दिया। परन्तु याज्ञवल्क्य ने दृढ़तापूर्वक गुरु आज्ञा को अस्वीकार कर दिया। गुरु शिष्य में तनाव बढ़ गया।

क्रोधावेश में शाकल्य ने कहा कि शिष्य का कर्तव्य गुरु की आज्ञा मानना है, अतः मेरे आदेश का उल्लंघन करके तुम अपराध कर रहे हो। उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि “जो व्यक्ति अभिमानी हो, कार्य-अकार्य को न समझे, वह दुराचारी गुरु होकर्यों हो उसका परित्याग कर देना चाहिये।” उन्होंने शाकल्य को समझाने की कोशिश की कि राजा कामोन्मत्त है और उसने आपका, मेरा तथा पूरे उपासना विधान का अपमान किया है, फिर भी आप लोभवश उसको प्रसन्न रखना चाहते हैं, यह ठीक नहीं। शाकल्य ने ‘गुरुडम’ का रौब जमाना चाहा तो याज्ञवल्क्य ने दो-दूक शब्दों में कह दिया कि आप अब मेरे गुरु नहीं हैं, आप ऐसे व्यक्तिको मैं गुरु स्वीकार नहीं कर सकता। इसपर शाकल्य ने कहा कि ठीक है तुम मेरी दी हुई विद्या उगल दो (वापस कर दो)। याज्ञवल्क्य ने तुरन्त उनकी दी हुई विद्या उगल दी।

इसके बाद हाटकेश्वर में जाकर उन्होंने सूर्य की उपासना की। उन्होंने सूर्य को बारह मूर्तियों में स्थापित किया। उनकी उपासना से प्रसन्न होकर सूर्य ने दर्शन दिया और वर मांगने को कहा। याज्ञवल्क्य ने उन्हें चारों वेद साङ्गोपाङ्ग पढ़ा देने की प्रार्थना की। सूर्य ने स्वीकार करते हुए कहा कि तुम सुद्धम रूप में मेरे घोड़े के कान में बैठ जाओ, मैं तुम्हें ज्ञान प्रदान करता रहूँगा। ऐसा ही हुआ और याज्ञवल्क्य ने सूर्य से वेद-ज्ञान, समग्रता में, उपलब्ध कर लिया।^१

भागवत पुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य की जीवन कहानी संक्षेप में इस प्रकार है—याज्ञवल्क्य ने ऋग्वेद संहिता वाष्कल से, वाष्कल ने पैल से और पैल ने व्यास से पढ़ी थी। इसी प्रकार यजुर्वेद संहिता व्यास ने वैशम्पायन से कही और वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य को पढ़ायी। कहा जाता है कि एक बार वैशम्पायन जी को ब्रह्महत्या का दोष लगा, जिसका उन्हें प्रायश्चित्त करना था। पर उन्हें एक ऋषि

गोष्ठी में जाना था। अतः उन्होंने अपने शिष्यों को प्रायश्चित्त हेतु व्रत विधान सम्पन्न करने की आज्ञा दी। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि ये बेचारे अल्पवीर्य (अल्पज्ञानी) शिष्य अनुष्ठान क्या सम्पन्न करेंगे। मैं अकेला ही इसे पूरा कर दूँगा। वैशम्पायन के भानजे होने के कारण याज्ञवल्क्य कुछ उद्धत हो गये थे। वैशम्पायन जी को क्रोध हो आया और उन्होंने कहा कि मुझे बाह्यणों का अपमान करने वाले तुम्ह-जैसे शिष्य से कोई प्रयोजन नहीं है, तू मुझसे पढ़ी-विद्या का त्याग कर दे और यहाँ से चला जा। याज्ञवल्क्य ने तुरन्त उनसे पढ़ी यजुः (श्रुतियों) का त्याग (वमन) कर दिया और वहाँ से चल दिये। वमन रूप में पड़े यजुर्वेद के मन्त्रों को (जो अत्यन्त सुरम्य थे) देखकर अन्य मुनियों ने तीतर बन कर ग्रहण कर लिया, जिससे 'तैत्तिरीय शाखा' का प्रवर्तन हुआ। याज्ञवल्क्य ने ऐसी यजुः श्रुतियों को जानने के लिए सूर्य की आराधना की जिन्हें वैशम्पायन भी न जानते हैं। उन्होंने भगवान् सूर्य से प्रार्थना की—“अहमयातमय काम उपसरामिति”, अर्थात् मैं यजुर्वेद के ऐसे मन्त्रों को पाने की प्रार्थना करता हूँ जो अन्य ऋषियों को अविदित हों अथवा यथावत ज्ञात हों। उनकी उपासना से स्तुति से भगवान् सूर्य ने उन्हें 'अश्व' रूप में दर्शन दिया और यजुः श्रुतियाँ प्रदान कीं, जिनसे याज्ञवल्क्य ने पन्द्रह शाखाओं की रचना की। अश्वरूप-सूर्य से प्राप्त होने के कारण याज्ञवल्क्य द्वारा प्रवर्तित यह यजुर्वेद शाखा वाजसनेयि शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसे शुक्ल यजुर्वेद संहिता भी कहते हैं।^१ इससे स्पष्ट है कि मध्यकाल की भारतीय धर्म साधना एवम् चिन्तन को सर्वाधिक रूप से प्रभावित करनेवाले 'भागवत पुराण' ने याज्ञवल्क्य का सूर्य के शिष्य एवम् शुक्ल-यजुर्वेद के प्रथम प्रवक्ता या प्रवर्तक ऋषि के रूप में स्मरण किया है।

महाभारत में कहा गया है कि मोक्षवित् जनक के पिता देवरात ने एक बार यज्ञ किया। अश्वर्यु का काम वैशम्पायन जी करा रहे थे। उनके करने में कुछ त्रुटि होने से यज्ञ पूरा नहीं हो रहा था। याज्ञवल्क्यजी ने वैशम्पायन जी की क्रिया को दोषपूर्ण बताया। फिर देवरात और वैशम्पायन दोनों ने यज्ञ की पूर्ति कराने की याज्ञवल्क्य जी से प्रार्थना की और उन्होंने यज्ञ पूर्ण कराया। जब यज्ञ दक्षिणा राजा ने वैशम्पायन को दी तब याज्ञवल्क्य ने विरोध किया और यज्ञ पूर्ण कराने के नाते स्वयम् दक्षिणा के दावेदार बने। अन्त में महर्षि देवत ने दक्षिणा दोनों में बाँची-बाँची बाँट दी।^२

विष्णु-पुराण में याज्ञवल्क्य को व्यास-शिष्य वैशम्पायन का शिष्य कहा गया है।^३ शतपथ ब्राह्मण में जनक वैदेह के यदा अरुण-पुत्र श्वेतकेतु, सात्ययज्ञ, सोमशुभ

१. भागवत पुराण, १२।६।५५-७४

२. महाभारत शान्ति पर्व, अध्याय ११८

३. विष्णु-पुराण, अ० १-५-१-२

और याज्ञवल्क्य के उपस्थित होने का उल्लेख है।^१ इसी ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य और आरुणि को समकालीन बताया गया है।^२

याज्ञवल्क्य जनक के गुरु थे और इनसे जनक को आत्मबोध हुआ, इसका उल्लेख कई स्थानों पर है^३। वृहदारण्यक उपनिषद् में इनके बारे में काफी कहा गया है। एक बार राजा जनक ने ब्रह्मनिष्ठ ऋषियों की एक गोष्ठी की और एक सहस्र सवत्सा एवम् अलंकृत गौओं की ओर संकेत करके कहा कि आप लोगों में जो अपने को ब्रह्मनिष्ठ समझें, वह इन गायों को ले जायें। किसी विद्वान को साहस नहीं हुआ। इस पर याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों को आज्ञा दी कि गायों को आश्रम में ले जाओ। सारी सभा में खलबली मच गयी। विद्वानों ने कहा कि हम सभी ब्रह्मनिष्ठ हैं, केवल तुम कैसे गाय ले जा सकते हो? याज्ञवल्क्य ने कहा ब्रह्मनिष्ठ को तो मैं नमस्कार करता हूँ, मैंने तो केवल गायों की कामना से गायों को ले जाने के लिए कहा। फिर सबों ने याज्ञवल्क्य से ब्रह्म के बारे में अनेक प्रश्न किये और याज्ञवल्क्य ने सबका समाधान किया। उस सभा में उस युग के एक से एक बड़े विद्वान थे। याज्ञवल्क्य ने सबको परास्त कर दिया। गार्गी नामक विदुषी महिला भी उस विद्वन्मण्डली में थी। उसने भी इनसे प्रश्न पूछे। अन्त में उसने सभा में यह घोषणा की कि पूव्य ब्राह्मणों, आप लोग इसी को बहुत समझें कि इन याज्ञवल्क्य जो से आपको नमस्कार करने से हो छुटकारा मिल जाय। आप में से कोई भी इनसे ब्रह्म विषयक वाद में जोतने वाला नहीं।^४ इससे याज्ञवल्क्य के ज्ञान का पता चलता है। उस सभा में शाकल्य को अपनी विद्यापर बड़ा गर्व था, अतः उसने याज्ञवल्क्य को प्रश्नोत्तर के लिए ललकारा। उसने कई प्रश्न पूछे और याज्ञवल्क्य ने सबके उत्तर दिये फिर याज्ञवल्क्य ने प्रश्न पूछा और वह उत्तर न दे सका, और उसका मस्तक झुक गया। फिर याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को ब्रह्म-ज्ञान प्रदान किया। बाद में जनक को विदेह की पदवी मिली।

याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। जीवन के उत्तरकाल में याज्ञवल्क्य ने सन्यास लेना चाहा इसलिये उन्होंने सम्पत्ति का बँटवारा पत्नियों में कर देने का निश्चय किया। कात्यायनी को सम्पत्ति प्रिय थी, वह तैयार हो गयी। परन्तु मैत्रेयी ने पूछा कि भगवन् आप सम्पत्ति छोड़कर किस प्रयोजन हेतु सन्यास ले रहे हैं? उन्होंने कहा—अमरत्व हेतु। मैत्रेयी ने पूछा कि क्या इस सम्पत्ति से मुझे अमरत्व मिल सकता है तो ऋषि ने उत्तर दिया कि सम्पत्ति से लौकिक सुख मिलता

१. शतपथ ब्राह्मण, ११।६।२।१

२. शतपथ ब्राह्मण, १४।६।३।१५

३. " ११।६।२।१०

४. वृहदारण्यक उपनिषद्, ३।१।१२

है, अमरत्व नहीं। मैत्रेयी चेत्रवादिनी स्त्री थी। उसने तुरन्त उत्तर दिया कि जिस वस्तु से मुझे अमरत्व नहीं मिल सकता, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? आप सम्पत्ति वात्स्यायनी को दे दीजिये, मैं आपके साथ वन में चलूँगी। ऋषि बड़े प्रसन्न हो उठे। उन्होंने बड़े विस्तार से मैत्रेयी को ब्रह्मतत्त्व का उपदेश दिया। छान्दोग्य उपनिषद् में भी याज्ञवल्क्य के बारे में उल्लेख है कि इन्होंने छः मास तक जनक की सभा में शास्त्रार्थ किया और सबको परास्त किया, वहाँ इनकी बड़ी महिमा बतायी गयी है।

डा० राजबली पाण्डेय ने लिखा है, “याज्ञवल्क्य यजुर्वेद के शाखा प्रवर्तक ऋषि थे। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञों के एक महान अधिकारी विद्वान माने गये हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में अधिकारी दार्शनिक। यह उद्दालक आरुणि के शिष्य थे। एक विवाद में इन्होंने उद्दालक आरुणि को हरा दिया था। कहा जाता है कि यह विदेह जनक के गुरु थे।” पाण्डेय जी का यह भी कहना है कि “बिहार प्रदेश के दरभंगा सीतमढ़ी मार्ग के बीच रमौल ग्राम है। यहाँ एक शिव मंदिर है। इसी के मास गौतम-कुण्ड और वट का वृक्ष है।”^१

याज्ञवल्क्य विषयक महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख श्री रामचन्द्र गोविन्द कोलंगड़े ने निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है :—

(१) वैशम्पायन से यजुर्वेद-प्राप्ति, (२) शाकल्य से ऋग्वेद-ग्रहण, (३) उद्दालक आरुणि से मंत्र-सिद्धि, (४) द्विरण्यनाभ कौसल्य से योग-साधना, (५) शुक्ल यजुर्वेद शाखा का प्रणयन, (६) जनक के यज्ञ में वैशम्पायन और याज्ञवल्क्य में दक्षिणा के बारे में विवाद, (७) सम्राट जनमेजय की याज्ञवल्क्य के प्रति निष्ठा, (८) याज्ञवल्क्य द्वारा जनमेजय को शुक्ल यजुर्वेद का अध्यापन, (९) जनमेजय के पुत्र शतानीक को शुक्लयजुर्वेद का अध्यापन, (१०) जनमेजय का याज्ञवल्क्य की अध्यक्षाता में दो अश्वमेध करना (वैशम्पायन को इस यज्ञ से दूर रखा गया और अन्य सनातनी ब्राह्मणों को भी बहिष्कृत रखा गया), (११) याज्ञवल्क्य को प्रतिष्ठा का बढ़ना और क्षत्रिय दरबारों में उनका प्रवेश (१२) प्रख्यात जनक सभा में उद्दालक आरुणि का पराभव, गार्गी का नमस्कार करना, ऋग्वेदाचार्य शाकल्य का शिरःपतन और अलौकिक तत्त्ववेत्ता के रूप में याज्ञवल्क्य की जय-जयकार (१३) योगीश्वर याज्ञवल्क्य-जनक संवाद और मैत्रेयी को ज्ञानोपदेश (१४) याज्ञवल्क्य को योगीश्वर की पदवी का प्राप्त होना।^२

१. हिन्दू धर्म कोष, राजबली पाण्डेय, पृ० ५३५

२. वही—

३. याज्ञवल्क्य दर्शन, रामचन्द्र गोविन्द कोलंगड़े, पृ० ३०६

शुक्ल यजुर्वेद में द्रष्टा ऋषि याज्ञवल्क्य का बहुत प्रसिद्ध 'शिव संकल्प सूक्त' है इस सूक्त में मानस-शक्ति की अनुपमेयता एवम् विलक्षणता का वर्णन किया गया है। मन के द्वारा ही अप्रमेय एवम् परम सत्य का बोध संभव है। यही मनुष्य की अन्तरव्योति है। मन के बिना किसी कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। वर्तमान, भूत, भविष्य तीनों काल इपी की सीमा में हैं। विश्व की चित्त शक्ति मन में ही अनस्यूत है। जिस प्रकार चतुर सारथी घोड़ों को नियन्त्रित रखता है, उसी प्रकार मन मनुष्यों को नियन्त्रण में रखता है। याज्ञवल्क्य ने अपने इन सूक्तों में मन को शिव संकल्पों से पूरित करने की बात कही है। यह मानसिक शिवता की कामना करते थे। क्योंकि मानसिक पवित्रता के अभाव में जीवन के व्यावहारिक कार्यों में शुचिता संभव नहीं है। याज्ञवल्क्य का यह सूक्त ऋग्वेद के खिल्यभाग के (४।१) में ही उपलब्ध है। उत्तर कालीन साहित्य में महर्षि याज्ञवल्क्य के इस सूक्त की बड़ी महत्ता स्वीकार की गयी है। अग्नि-पुराण में इस सूक्त के जप से मन के समाधान का विधान है।^१ कहा गया है कि जो व्यक्ति इस सूक्त का पाठ या जप करेगा, उसका मन निश्चित रूप से समाधि उपलब्ध करेगा। मनुस्मृति में भी इस सूक्त को पाप के निवारण में अत्यधिक समर्थ बताया गया है।^२ मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि ने श्राद्ध के समय इस सूक्त के पाठ का निर्देश किया है।^३ यह 'शिव संकल्प सूक्त' शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनी वाजसनेय संहिता (जिसके प्रवक्तक याज्ञवल्क्य ही हैं) में चौतीसवें अध्याय के १ से ६ सूक्तों में है।

'याज्ञवल्क्य स्मृति' नामक ग्रन्थ भी याज्ञवल्क्य रचित कहा जाता है। मनु-स्मृति के बाद इसी स्मृति को समाज में प्रतिष्ठा मिली। इसमें वर्णित 'श्राय-भाग' का तो आधुनिक काल में बड़ा महत्व आँका गया है। इस प्रकार शुक्ल यजुर्वेद संहिता, शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक उपनिषद्, याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रणेता याज्ञवल्क्य बताये जाते हैं। इनके लिखे हुए व्याकरण, आयुर्वेद, और धनुर्वेद संबंधी ग्रन्थों के उल्लेख भी मिलते हैं।^४ योग पर लिखे इनके एक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है लेकिन यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

याज्ञवल्क्य के विषय में मतभेद

कई आधुनिक विद्वानों का कहना है कि याज्ञवल्क्य किसी एक व्यक्ति का नाम नहीं है; इस नाम की एक परम्परा रहा है। इनका मत है कि याज्ञवल्क्य विष-

१. अग्नि पुराण २६०।७४

२. मनुस्मृति, ११।२५१

३. मनुस्मृति, ३।३३२

४. कल्याण पत्रिका, हिन्दू संस्कृति अंक।

यह अनेक उल्लेखों और विवरणों से यह साफ हो जाता है कि कोई एक व्यक्ति इतने दीर्घ काल तक जीवित नहीं रहा होगा। अतएव या तो कई याज्ञवल्क्य थे या यह परम्परागत नाम मात्र था अथवा यह गोत्र नाम था। हम इन सारे शोधपरक निष्कर्षों का न तो यहाँ विवरण दे सकते हैं न इस सम्बन्ध की योजना के अनुसार इनकी सत्यता की जाँच-परख ही कर सकते हैं। हम केवल इतना कह सकते हैं कि कोई महान् मन्त्र-द्रष्टा, तत्वज्ञ, चारों वेदों का ज्ञाता और अपने युग में अत्यन्त रुमाहत व्यक्ति अवश्य रहा होगा जिसे सर्वप्रथम इस नाम से अभिहित किया गया होगा। शतपथ ब्राह्मण, शुक्ल यजुर्वेद और बृहदारण्यक उपनिषद् में इस नाम के व्यक्ति का स्तुतिपूर्वक विवरण इन्हें ऐतिहासिक मानकर ही किया गया प्रतीत होता है। प्राचीन काल के लिखित विवरणों के आधार पर अनेक महर्षियों के बारे में भी यही कठिनाई सामने आती है। यही क्यों, आदि शंकराचार्य के जन्म-जीवनी के बारे में भी मतभेद है। गोस्वामी तुलसीदास के बारे में जीवनी-विषयक कई मतों का उल्लेख हम कर आये हैं। विश्वामित्र, वशिष्ठ, वाल्मीकि, नारद आदि के विषय में भी ऐतिहासिक निश्चय नहीं हो सका है और कदाचित् हो भी नहीं सकता। पुराणों में कहा जाता है, वैदिक चिन्तन और घटनाओं के ही विवरण प्रकाशित किए गए हैं। लेकिन विद्वान् अनेक पुराणों में अनेक प्रकार के विवरणों से इन्हें इतिहासतुल्य न मान कर काल्पनिक मानने का ही निर्णय करते हैं। फिर भी, पुराणों में कल्पना का कोई तथ्य तो मानना ही होगा। श्री मिचेल टेंपल महोदय का मत है कि, “अब हम यह महसूस करने लगे हैं कि पौराणिक या गाथा-परक वार्ताओं में मूल में कोई न कोई तथ्य अवश्य है। गाथाओं का सृजन शून्य से नहीं होता कोई न कोई ऐसा बीज अवश्य होना चाहिए जो इन गाथाओं में वृक्ष के समान परिवर्तित हो गया है।”

विद्वत्तापूर्ण अनुसंधान के बाद श्रीकोलगंडे जी निष्कर्षित करते हैं कि—
 “याज्ञवल्क्य काल्पनिक व्यक्ति नहीं, एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे; प्रसिद्ध महाभारत युद्ध के उत्तरकाल में श्रीगंधी इनका व्यक्तित्व चमक उठा।”^१ इनका मत है कि याज्ञवल्क्य जी, जो शुक्ल यजुर्वेद संहिता के प्रवर्तक थे, शतपथ ब्राह्मण के प्रवक्ता थे और योगी एवम् बृहदारण्यक के दार्शनिक थे, परीक्षित पुत्र जनमेजय के समकालीन थे। यह जनक के भी गुरु थे। ‘महाभारत का युद्ध कब हुआ और परीक्षित पुत्र जनमेजय गद्दी पर कब बैठे यह विवाद का विषय है; इस युद्ध को कोई ६००० वर्ष ई० पू० बताता है, कोई ५००० वर्ष ई० पू०, कोई ३००० वर्ष ई० पू०। लोकमान्य के अनुसार यह युद्ध १४९८ ई० पू० में हुआ था। इस युद्ध के समय को १११७ ई०

१. जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, १९१७

२. याज्ञवल्क्य दर्शन, रामचन्द्र गोविन्द कोलगंडे, पृ० ३०७

५० तक बताने वाले शोध-मत भी हैं। श्री कोलगंडे जी का कहना है कि युद्ध का समय चाहे जो माना जाय, पर इतना उनके अनुसंधान के आधार पर निश्चित है कि याज्ञवल्क्य जी परीक्षित के पुत्र, पाण्डव-वंशी, जनमेजय के समय ख्याति लब्ध योगीश्वर थे।

हमें श्री कोलगंडे जी के इस मत को मानने में विशेष अड़चन नहीं प्रतीत होती है कि याज्ञवल्क्य एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे; क्योंकि महाभारत, पुराण साहित्य एवं परम्परागत किंवदंतियों में बड़ी दृढ़ता से शुक्ल यजुर्वेद के प्रवर्तनकर्ता के रूप में इनकी मान्यता मिली है। अड़चन तब अवश्य प्रतीत होता है जब इनको महाभारत के युद्ध के उपरान्त जनमेजय का समकालीन मानकर उस युग के किसी विदेह जनक का उनको गुरु माना जाता है। यह तो ठीक है कि जनमेजय कई हो चुके हैं और जनक भी कई रहे; और यह भी सत्य है कि याज्ञवल्क्य किसी जनक के गुरु थे, यह बृहदारण्यक उपनिषद् और छान्दोग्य उपनिषद् से प्रमाणित है। यह किसी जनमेजय से भी सम्बन्धित थे, यह भी महाभारत के आधार पर सही माना जायगा। पर यह निश्चय मानना कि यह जनमेजय युद्धोपरान्त के पाण्डव-वंशी जनमेजय थे, और उनके समकालीन कोई जनक थे, और दोनों से सम्बन्धित याज्ञवल्क्य थे, कुछ कठिन लगता है और इस कठिनाई का आधार गोस्वामी तुलसीदास की याज्ञवल्क्य विषयक मान्यता है।

तुलसीदास ने स्पष्ट रूप से माना है कि सीता के पिता जनक याज्ञवल्क्य के शिष्य थे। याज्ञवल्क्य की कृपा से ही उन्हें विदेहत्व की सिद्धि प्राप्त हुई थी :

“काहे गाधि नन्दन मुदित रघुनन्द सों,
नृपगति अगह, गिरा न जाति गही है।
देखे सुने भूपति अनेक भूटे-भूटे नाम,
साँचे तिरहुति नाथ साखि देत मही है।
रागऊ बिराग, भोग-जोग व्रत मन,
जोगि जागबलिक-प्रसाद सिद्धि लही है” ॥”

और यदि सीता के पिता जनक याज्ञवल्क्य के शिष्य थे तो वह रामावतार (त्रेता युग) का समय रहा होगा; इस समय पाण्डव वंशी जयमेजय कैसे माने जा सकते हैं? बाल्मीकि रामायण में लिखा है कि मिथि के पुत्र प्रथम जनक हुए। उनके नाम से जनक वंश चल पड़ा। इस वंश में ह्रस्व रोमा जनक हुए और इनके दो पुत्र पैदा हुए :—

“तस्य पुत्रद्वयं राज्ञो धर्मस्य महात्मनः ।

ज्येष्ठोऽहमनुजो भ्राता मम वीरः कुशध्वजः” ॥”

अर्थात्, उन धर्मवान महात्मा राजा के दो पुत्र हुये, मैं ज्येष्ठ पुत्र हूँ और मेरा अनुज कुशध्वज है। विष्णु पुराण, वायु पुराण और ब्राह्मण पुराण में इस जनक का नाम सीरध्वज है। यही सीरध्वज जनक याज्ञवल्क्य के शिष्य बताया गये हैं। गोस्वामी तुलसीदास को न केवल पुराणों का ज्ञान था, परन्तु वेद वेदांगों और शास्त्रों की भी पूरी जानकारी थी। इन्हें परम्परा का भी गहरा परिचय था। उन्होंने जिस याज्ञवल्क्य को रामचरितमानस का प्रमुख वक्ता बताया है, उनके अनुसार वह चारों वेदों के महान् विद्वान् थे। भरद्वाज ने याज्ञवल्क्य से कहा था कि, “करगत वेद तत्त्व सब तोरे”। कुछ भी हो, हम इतना ही कह सकते हैं कि जब तक श्री कोलंगड़े जी की इस मान्यता की सत्यता की परख नहीं हो जाती कि याज्ञवल्क्य पाण्डव वंशी जनमेजय के समकालीन थे, तब तक तुलसी की मान्यता को सही न मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। कोलंगड़े जी का निष्कर्ष व्यक्तियों के नामों के आधार पर है और तुलसी की मान्यता का आधार पुराण-साहित्य और गुरु परम्परा रही। तुलसी के अनुसार हम मानते हैं कि रामचरित-मानस के प्रवक्ता याज्ञवल्क्य वही याज्ञवल्क्य थे जिनका सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद, शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् से है और जो सीता के पिता जनक के गुरु थे।

व्यक्तित्व की रूप-रेखा

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर हम याज्ञवल्क्य के व्यक्तित्व की महत्वपूर्ण विशेषताएँ निश्चित कर सकते हैं। इससे हमें उनके तत्त्व दर्शन को समझने में सुविधा होगी, क्योंकि किसी चिंतक के व्यक्तित्व और उसके चिन्तन में गहरा सम्बन्ध होता है। चिन्तन एक प्रकार से व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होता है।

(१) यौवन-काल में याज्ञवल्क्य काम प्रेरित थे। आरम्भ में सावित्री के शप से ब्रह्मा के याज्ञवल्क्य रूप में मनुष्य-योनि में पैदा होने और अत्यन्त कामी होने की जो कहानी है, उससे इतना आभास तो होता ही है कि इनमें काम की प्रवृत्ति प्रबल थी। इनकी दो पत्नियाँ थीं, इससे भी इसकी पुष्टि ही होती है। यही नहीं, बृहदारण्यक उपनिषद् का अन्तिम अध्याय काम-रति एवम् सन्तान-उत्पत्ति को विषय बनाकर लिखा गया है और उसमें बावीकरण विधान का भी उल्लेख है। इसमें लिखा है कि बाजपेय यज्ञ करने से यजमान को जितना पुण्य-लोक प्राप्त होता है, उतना ही उसे जो जानकर मैथुन आचरण करता है। इस अध्याय के प्रवक्ताओं में

१-बाल्मीकि रामायण, १।७१।१३

याज्ञवल्क्य भी हैं। इससे इतना तो पता लग ही जाता है कि यह यज्ञ-रूप में काम-रति की प्रतिष्ठा जीवन के अन्तिम चरण में स्वीकार ही करते थे।

(२) याज्ञवल्क्य अर्थ को भी महत्व देते थे। यज्ञ की दक्षिणा के लिए वैशम्पायन जी से इनका झगड़ा हो गया और इन्होंने आधी दक्षिणा ले ली। उपर्युक्त विवरण में जनक की समा में एक सदस्य सवत्सा एवम् अलंकृत गौशों को ले जाने के लिए इन्होंने शिष्यों से कहा और जब अन्य विद्वानों ने पेटराज किया कि क्या आप हो सबसे बड़े ब्रह्मनिष्ठ हैं तो इन्होंने कहा कि ब्रह्मनिष्ठ को तो हम नमस्कार करते हैं, मैं तो गौशों की कामनावाला हूँ। बृहदारण्यक उपनिषद् के अध्याय ६ के ब्राह्मण ३ ऐश्वर्य एवम् धन पाने की विद्या का विवरण है और बताया गया है कि उद्दालक आरुणि ने यह विद्या याज्ञवल्क्य को और याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुक पैम्ब को सिखाई। याज्ञवल्क्य ने कहा कि यदि कोई सूखे ठूँठ पर प्रयोग कर दे तो उसमें शाखायें निकल आर्येंगे और पत्ते प्रकट हो जायेंगे। इससे यह मालूम हो जाता है कि अर्थ-सिद्धि भी इन्हें प्राप्त थी।

(३) सदाचार के प्रति इनकी महती निष्ठा थी और यह कदाचार या चरित्र दोष के सर्वथा विरुद्ध थे। लोभ वृत्ति के कारण इन्होंने अपने गरु का ही तिरस्कार कर दिया था।

(४) इनमें स्वाभिमान तगड़ा था। पह किसी के सामने गलत रूप में झुकने को तैयार नहीं थे। सिद्धान्त या तत्त्वज्ञान के विषय में तो किसी भी व्यक्ति के आगे टस से मस नहीं होते थे। लेकिन इनके स्वाभिमान के पीछे तपस्या और सूर्य की उपासना का बल था। यह सूर्य के प्रति निष्ठावान उपासक थे।

(५) याज्ञवल्क्य पूर्ण तत्त्व के ज्ञाता थे। सूर्य से इन्हें समग्र ज्ञान प्राप्त हुआ था। यह वेद के द्रष्टा ऋषि थे। इन्होंने सूर्य से वह ज्ञान प्राप्त करने की प्रार्थना की जिसे अन्य कोई मनुष्य न जानता हो अथवा जानता हो तो पूर्ण ज्ञाता न हो। इससे ज्ञात होता है कि इनमें मौलिक अपूर्व ज्ञान के प्रति अनुराग था। उन्होंने सूर्य से जो यजुः श्रुतियों का ज्ञान पाया उसे इसीलिए शुक्ल यजुर्वेद कहा जाता है और अन्यो की परम्परा से जो यजुः श्रुतियाँ ज्ञात थीं, उन्हें कृष्ण यजुर्वेद माना जाता है। यह यजुर्वेद की नयी शाखा के प्रवर्तक बने। इससे यह भी पता चलता है कि गलत परम्परा के यह विरोधी थे, यह परम्परावादी नहीं थे। यह एक श्रेष्ठ योगी भी थे।

(६) जीवन-भर इन्होंने कर्म से अपने को जोड़ रखा। यह गृहस्थ थे और इनका गृहस्थ जीवन सुखी था। इनके पास सम्पत्ति भी काफी थी जिसका इन्होंने संन्यास लेने के क्षण पत्नियों में बँटवारा करना चाहा। यह यज्ञ कर्म के बड़े ज्ञाता थे और इन्होंने कई यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ भी कराये। अध्यापन का कर्म भी यह

करते थे। यह कई राजाओं के गुरु थे। इनकी कृपा से जनक को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो सका था।

कृतियाँ

(क) वेद

याज्ञवल्क्य वेद मंत्रों के द्रष्टा थे। इनकी यजुः श्रुतियों को 'शुक्ल यजुर्वेद' संहिता' कहा जाता है। इसे 'माध्यन्दिनी वाजसनेयि शाखा' भी कहा जाता है। इसके ४० वें अध्याय को 'ईशावास्योपनिषद्' की संज्ञा प्राप्त है।

(ख) ब्राह्मण

'शतपथ ब्राह्मण' इनका प्रसिद्ध ब्राह्मण ग्रन्थ है। इसकी महत्ता ऋग्वेद के तुल्य मानी जाती है। इस ग्रन्थ के विचार-सौन्दर्य और अर्थ-माधुर्य की जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी कम है। प्रो० मैक्डोनेल ने, इसीलिए लिखा है कि "याज्ञवल्क्य का 'शतपथ-ब्राह्मण' ऋग्वेद के बाद सर्वोपरि महत्त्व का ग्रन्थ है, और समस्त वैदिक वाङ्मय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति है।" कहा जाता है कि विजय नगर के महाराज ने जब प्रसिद्ध वेद भाष्यकार सायणाचार्य से प्रार्थना की कि आचार्य जी! आप कृपा करके किसी ऐसे ग्रन्थ की व्याख्या करें जिससे वेद मन्त्रों के अर्थ सुस्पष्ट-विशद हों, यज्ञ के समय अर्घ्य को अन्य किसी ग्रन्थ की सहायता न लेनी पड़े, और परब्रह्म का ज्ञान भी सुगम एवम् सुग्राह्य बन सके। तब सायणाचार्य ने राजा की प्रार्थना पर पूरा विचार करके 'शतपथ ब्राह्मण' पर भाष्य लिखने का संकल्प किया। अपने ग्रन्थ 'वेदार्थ प्रकाश' (शतपथ-ब्राह्मण की टीका) की भूमिका में श्री सायणाचार्य ने इस ग्रन्थ का स्वयम् उल्लेख किया है। वस्तुतः इस ग्रन्थ में वैदिक आर्यों की विविध भावना, आकाक्षा, आचार-विचार, नीति, व्यवहार, ज्ञान-विज्ञान आदि का प्रसंग प्राप्त वर्णन अथवा बीज रूप उल्लेख मिलता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस ब्राह्मण-ग्रन्थ में याज्ञिक प्रयोग और अर्थ विवरण के साथ ही तात्त्विक, शास्त्रीय और नैतिक सिद्धान्त यथा-प्रसंग प्रस्तुत किये हैं। सृष्टि उत्पत्ति, परिवार-संस्था, वर्ण-उत्पत्ति, राज्य-व्यवस्था, सामाजिक-व्यवस्था, गृहस्थ-धर्म, विद्या-महत्त्व, कर्म की श्रेष्ठता, ज्ञान का प्रभाव, यज्ञ रहस्य, मर्त्य-अमर्त्य सृष्टियाँ, देवता-स्वरूप, उपासना एवम् उसकी फलश्रुति आदि अनेक विषयों पर प्रकाश डालते हुए महर्षि ने इस ग्रन्थ में श्रेय और प्रेय को एक साथ प्रस्तुत किया और इस प्रकार मनुष्य मात्र को अपना जीवन सार्थक बनाने में मार्ग दर्शन किया। इस उत्कृष्ट ग्रन्थ की पृष्ठभूमि में योगेश्वर याज्ञवल्क्य का निजी अनुभव था। इसमें कर्मयोग और बुद्धियोग की निष्ठा है। इसमें १४ काण्ड हैं और १०० अध्याय हैं। इसके अन्तिम काण्ड के अन्तिम ६ अध्यायों को बृहदारण्यक उपनिषद्

१. याज्ञवल्क्य दर्शन, रा० गो० कोलंगडे, पृ० १

कहा जाता है। अवतार का स्पष्ट उल्लेख भी सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में पाया जाता है। हम कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय चिन्तन को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करता है। इसने उत्तर कालीन चिन्तन और रचना को अत्यधिक प्रभावित किया है। जन्म से मृत्यु तक मनुष्य के संस्कारों की प्रक्रियाओं का इसमें विवरण भी है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और तत्त्व-दर्शन में यह ग्रंथ मानवता का पथ-प्रदर्शन कर सकने की क्षमता रखता है।

(ग) उपनिषद्-साहित्य

‘बृहदारण्यक उपनिषद्’ याज्ञवल्क्य के तत्त्व-चिन्तन को अपना प्रमुख प्रतिपाद्य बनाता है। यद्यपि इसमें तत्त्व-चिन्तन ही मुख्य है, फिर भी लोक-जीवन के धर्म, अर्थ, और काम को, अर्थात् लौकिक पुरुषार्थ को, चतुर्थ पुरुषार्थ (मोक्ष) से समरस बनाने का पूरा-पूरा उद्योग किया गया है। अतएव इसमें लोक और परमतत्त्व दोनों एकत्र में अनुस्यूत हैं। कदाचित् यही कारण है कि आचार्य शंकर ने अन्य उपनिषदों के भाष्य की अपेक्षा इसके भाष्य में अनेक शंकाओं, पूर्वपक्षों की कल्पना करके अधिक विस्तार पूर्वक ग्रंथ के सिद्धान्त को स्पष्ट करने का उद्योग किया है। आचार्य को इसके भाष्य में अपनी रुचि-प्रतीति और सिद्धान्त को व्यक्त करने का सर्वाधिक अवसर प्राप्त हुआ है। इस उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य ने परमतत्त्व को तर्क, दृष्टान्त और अपने साधनाश्रित अनुभव, अपरोक्षानुभूति के आधार पर निरूपित किया है।

(घ) स्मृति

‘याज्ञवल्क्य स्मृति’ भी इनकी रचना कही जाती है, जिस पर विद्वानों में मतभेद नहीं है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ याज्ञवल्क्य की निजी कृति तो नहीं है, लेकिन वह उनकी मौखिक परम्परा का ही लेखबद्ध रूप है, इसे स्वीकार किया जा सकता है। भारत के प्राचीन काल में ऐसा होता रहा है। पर्याप्त काल तक कोई विन्तन-प्रणाली मौखिक चलती रही और बाद में लेखबद्ध हुई। सांख्यशास्त्र के मत में ऐसी बात प्रसिद्ध हो है। आज जो ‘सांख्यशास्त्र’ मिलता है, वह कपिल द्वारा रचित ‘सांख्यशास्त्र’ की मौखिक परम्परा का लेखबद्ध रूप माना जाता है। इसलिए यह मानना उपयुक्त है कि ‘याज्ञवल्क्य स्मृति’ के परोक्ष स्रोत याज्ञवल्क्य ही हैं, उसका प्रत्यक्ष लेखक कोई रहा हो। इस स्मृति का महत्त्व उत्तरकाल और मध्यकाल में अत्यधिक था। इसे मनुस्मृति के तुल्य महत्त्व प्राप्त है। इसकी टीका ‘मिताक्षरा’ की काफी प्रसिद्ध है।

(ङ) याज्ञवल्क्य रामायण व अन्य

‘याज्ञवल्क्य रामायण’ का भी उल्लेख मिलता है, लेकिन यह ग्रन्थ देखने में

नहीं आया है। इसी प्रकार व्याकरण, आयुर्वेद, धनुर्वेद सम्बन्धी इनके ग्रन्थों के उल्लेख तो हैं, पर ये उपलब्ध नहीं हैं। यह योग-विद्या के भी अधिकारी विद्वान थे, अतः संभव है कि इन्होंने 'योग-विद्या' पर भी कोई ग्रंथ लिखा हो। ऐसा उल्लेख तो है पर कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

याज्ञवल्क्य और तुलसी

तुलसी की जीवनी और व्यक्तित्व की संक्षिप्त जानकारी अन्यत्र में प्रस्तुत की जा चुकी है और यहाँ 'रामचरित मानस' के प्रमुख प्रवक्ता महर्षि याज्ञवल्क्य की जीवनी और व्यक्तित्व पर हमने विचार कर लिया। अब यदि इन दोनों महानुभावों के जीवन और व्यक्तित्व की तुलनात्मक विवेचना कर लें तो अप्रासंगिक नहीं होगा। अस्तु—

(१) याज्ञवल्क्य और तुलसी दोनों सम्प्रदाय-मुक्त-चिन्तक थे—ऊपर कहा जा चुका है कि जनमेजय के जिस यज्ञ की ग्रथ्यक्षता याज्ञवल्क्य ने की, उसमें वैशम्पायन और उनके समान ही अन्य सनातनवादी ब्राह्मणों को बहिष्कृत रखा गया। जिस ज्ञान को याज्ञवल्क्य ने उगल दिया, उसे अन्यो ने मनोरम समझकर तीतर लून में निगल लिया। तुलसी का विरोध भी कटूतर पत्थी ब्राह्मणों के साथ जीवन-भर बना रहा, इसे अधिक समझाने की आवश्यकता नहीं है। दोनों अपने अनुभव और विश्वास पर पूरी तरह दृढ़ थे। दोनों ने सीधे परम-तत्त्व ब्रह्म से अपरोक्ष सम्बन्ध जोड़कर साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने हेतु उपासना की और दोनों इसमें सफल हुए। याज्ञवल्क्य ने सूर्य से, जिन्हें 'सूर्यो आत्मा जगत-स्वस्थुः' कह कर स्मरण किया जाता है, ज्ञान प्राप्त किया और 'रामचरित मानस' के कवि को राम-कृपा का सम्बल रहा। नैष्ठिक उपासक दोनों थे।

(२) दोनों व्यक्तियों का जीवन प्रारम्भ में कष्ट पूर्ण था। जैसा कि पूर्वोक्त किंवदन्ती में कहा गया है, याज्ञवल्क्य को इनके पिता ने घर से निकाल दिया था और इन्हे दर-दर पागलों-सा घूमना पड़ा था। तुलसी तो होते ही माता-पिता द्वारा त्याग दिए गए थे और वर्षों तक अभाव का जीवन व्यतीत करते रहे। अभाव और असहायता की स्थिति में दोनों को गुरु-कृपा प्राप्त हुई और ये गुरु के साथ रहने-पढ़ने और साधना-पथ पर उन्मुख हुए। यद्यपि तुलसी का उनके गुरु से विरोध नहीं हुआ, लेकिन जब वह ऐसा कहते हैं कि 'गुरु पितु मातु महेस भवानी' तब ऐसा लगता है कि यह गुरु से बंधे हुए भी नहीं थे; गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा रख कर भी यह मुक्त थे अर्थात् गुरु-प्रीति इनके लिए बन्धन नहीं, प्रेरक-शक्ति थी। इनके वास्तविक गुरु शिव या स्वयं ब्रह्म राम थे। इसी प्रकार, याज्ञवल्क्य के बारे में कहा जाता है कि जब शाकल्य की दी हुई विद्या उगल कर सूर्य को उपासना

द्वारा प्रसन्न कर लिया और यजुर्वेद का नवीन ज्ञान पा लिया तब वह पुनः गुरु के पास पहुँचे और उन्हें अपनी नयी विद्या इन्होंने गुरु-दक्षिणा के रूप में दे दी। इससे तो ज्ञात होता ही है कि गुरु से इनका विरोध वैचारिक ही था।

(३) दोनों व्यक्ति, किंवदन्तियों के साक्ष्य पर, यौवन-काल में अत्यन्त कामी थे। याज्ञवल्क्य को इस कारण पिता की नाराजगी और समाज से तिरस्कारपूर्ण भावना का दण्ड भोगना पड़ा जिसके कारण यह शाकल्य की दया के अधिकारी बने और सुपथ पर आरुढ़ हुए। तुलसी को पत्नी की ही, अपने प्रेम के आलम्बन की ही, प्रतारणा मिली और वह वैरागी हो गए। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि सिद्ध एवम् सन्यासी होने पर भी दोनों को काम और अर्थ के प्रबल आकर्षण का स्मरण बना रहा, वे काम लोभ से निरन्तर सजग थे। बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तिम दो अध्यायों में याज्ञवल्क्य ऐश्वर्य (धन) और स्त्री-उपासना, (रति) के विवरण देते हुए लोभ और काम को यज्ञ से जोड़ कर श्रेयोमुख बनाते हैं। रामचरित मानस के एकदम अन्त में तुलसी ने भी लगभग यही कार्य निम्न पंक्तियों में किया :

“कामिहि नारि पियारि जिमि, लोमिहि प्रिय जिमि दाम।

तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम ॥”

यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि काम और अर्थ को श्रेयोमुख कर देने का अमिप्राय ‘लोक चेतना’ को ब्रह्म चेतना से जोड़ देना ही होता है जो बृहदारण्यक उपनिषद् और शतपथ में भी है। अतएव याज्ञवल्क्य और तुलसी की दृष्टि एक-सी रही। यही कारण है कि दोनों ने सांसारिक पथार्थ को आँखों से ओझट न रखा, न उसे उपेक्षणीय ही बताया; वरन उसे परमार्थ से जोड़कर उदात्त बनाने का प्रयत्न किया।

(४) याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को ब्रह्मतत्त्व का बोध कराया था और इस प्रकार उसे त्यागा नहीं, वरन उसे भी परमार्थ-पथ में सहयात्री बना लिया। तुलसी के बारे में भी कहा जाता है कि देशाटन करते-करते एक बार वह अपनी ससुराल के गाँव पहुँच गए और संयोग वर उसी मकान के सामने रुके जिसमें उनकी पत्नी रत्नावती रहती थी। उसने उन्हें पहचान लिया, पर वह उसे न पहचान सके। गोस्वामी जी से जब रत्नावती ने अपना परिचय दिया और वहीं रहने की प्रार्थना की तब गोस्वामी जी ने वहाँ रहना अस्वीकार कर दिया, पर उसे तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया।

(५) जीवन की प्रौढ़ावस्था में दोनों व्यक्तियों को राजाओं-महाराजाओं से भी काफ़ी सम्मान प्राप्त हुआ था। याज्ञवल्क्य की धाक सभी प्रतिष्ठित राजदरबारों में थी। सम्राट जनमेजय ने तो वैशम्पायन जी को त्यागकर इन्हें ही अपने यज्ञ का अध्यक्ष बनाया। तुलसी के पैरों पर भी बड़े-बड़े भूपति झुकने लगे थे, इसका स्पष्ट उल्लेख तुलसी ने किया है :—

“घर घर माँगे दूक पुनि, भूपति पूजे पाय ।

जो तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय ॥”

(६) ब्रह्म के अतिरिक्त प्राकृत व्यक्ति को ये दोनों महापुरुष कोई महत्त्व नहीं देते थे। इन्होंने अपनी वाणी और क्रिया शक्ति का उपयोग या तो ब्रह्म की उपासना में किया या ज्ञान-प्रदान करके जन-चेतन एवम् जन-जीवन को कल्याणकारी मार्ग में प्रवृत्त करने में नियोजित किया। तुलसी ने कहा कि “कीन्हें प्राकृत जन गुन माना । सिर धुनि गिरा लगत पछिताना ॥” और याज्ञवल्क्य ने एक प्रमादी राजा की विनती प्रार्थना की और अपने लोभी गुरु को जिस दृढ़ता से ठुकराया, उससे इनकी मानसिकता का पता चल जाता है।

(७) दोनों अन्त में परित्राजक रहे।

(८) योग-सिद्धि और अलौकिक शक्तियों की चर्चाएँ दोनों के विषय में हैं। वह योगीश्वर माने जाते हैं। शुष्क काष्ठ पर इन्होंने अभिमन्त्रित अक्षत जल फेंक दिया तो उसमें शाखाएँ निकल आयीं और पत्ते दिखायो देने लगे। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट तौर पर ‘श्री मंत्र’ विधान समझाते हुए लिखा ही है कि यदि इसे सूखे काठ पर छोड़ दिया जाये तो वह हरा हो जाएगा। तुलसी के बारे में किसी मुर्दे को जिला देने की बात कही ही जाती है। उनके अनेक चमत्कारों की चर्चाएँ संस्मरणात्मक ग्रन्थों में दी गयी हैं।

(९) ‘अवतार’ का स्पष्ट उल्लेख याज्ञवल्क्य के शतपथ ब्राह्मण में पहली बार हुआ और उसकी वास्तविकता तथा महत्ता का प्रतिपादन है। तुलसी तो सगुण-साकार के प्रसिद्ध भक्त ही थे। अस्तु, अवतारवादी दृष्टि में भी दोनों एक-से हैं।

(१०) योगीश्वर याज्ञवल्क्य के ब्रह्म-उपदेश से जनक की विदेहत्व की प्राप्ति हुई, अर्थात् इसी शरीर और संसार में इन्हें मोक्ष मिला। तुलसी की सगुण-साकार की भक्ति, विश्व-रूप भगवान की भक्ति, इसी लोक में मोक्ष को सिद्ध करने वाली है।

याज्ञवल्क्य और तुलसी के व्यक्तित्व-साम्य की इस संक्षिप्त चर्चा के बाद अब याज्ञवल्क्य के ‘तत्त्व चिन्तन’ पर विचार कर लेना जरूरी है।

(सरोष)

रिपोर्ट :

मानसामृत के प्रवेशांक का विमोचन

गत वट सावित्री पर्व दि० २ जून १९१ को वेदशास्त्रानुसंधान भवन, केदार घाट, वाराणसी में 'मानसामृत' के प्रवेशांक का विमोचन पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज के करकमलों द्वारा एक समारोह में सम्पन्न हुआ। विमोचन समारोह में काशी के अनेक मानस मर्मज्ञ विद्वान एवम् मानसप्रेमी नागरिक उपस्थित थे। समारोह की अध्यक्षता श्री तुलसी मन्दिर भदौनी के महन्त डा० वीरभद्र मिश्र ने की।

प्रारम्भ में पत्रिका के प्रकाशन का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए मानसामृत के सम्पादक पं० श्री बटुकमसाद शर्मा शास्त्री ने अपने वक्तव्य में कहा :

‘बड़े हर्ष का विषय है कि हम आज एक पुनीत कार्य करने जा रहे हैं। बहुत दिनों से, विद्यार्थी अवस्था से ही, मेरे मन में गोस्वामी तुलसीदास के साहित्य का प्रचार प्रसार करने की अभिलाषा रही है। इसीलिये एम० ए०, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार आदि परोक्षाओं में मैंने गोस्वामी तुलसीदास के साहित्य को विशेष कवि के रूप में पढ़ा। आज जो जहाँ तुलसी मानस मन्दिर, वाराणसी के तुलसी शोध संस्थान में अध्यक्ष पद पर कार्यरत हैं, तुलसी साहित्य की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त कर रहा हूँ। भारत वर्ष में गोस्वामी तुलसीदास के नाम से संबद्ध बहुत सी संस्थाएँ कार्यरत हैं किन्तु तुलसी साहित्य पर साहित्यिक दृष्टि से होने वाला कार्य सर्वसाधारण को सुज्ञ नहीं हो पा रहा है, जिसके मूल में तुलसी साहित्य पर किसी शोध पत्रिका का न होना है। इसी कमी को पूर्ण करने के लिए इस त्रैमासिक

शोध पत्रिका मानसामृत का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया है। हमें आशा है कि इस पत्रिका के माध्यम से गोस्वामी जी के प्रेमियों को उनके प्रति एक समृद्ध साहित्य सुलभ हो सकेगा।'

पत्रिका का विमोचन करते हुए पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने कहा :

‘वास्तव में मानस का ही अमृत अमृत है। मानसरोवर में अमृत की संभावना होती है, इसीलिये रामचरित मानस को मानस माना है। वैसे इस समय रामचरित मानस ही मुख्य मानस है और रामचरित मानस का जो मानसामृत है वही मुमुक्षुजनों के लिये, भगवद्भक्तों के लिए लाभदायक है। श्रीमद्भागवत में है कि श्री शुकदेवजी महाराज ने भक्तों की प्रार्थना पर भगवत्कथामृत देना स्वीकार किया। कुछ बहुत महत्वपूर्ण व्यक्ति आये और उन्होंने कहा कि हम प्रत्यक्ष अमृत प्रदान करते हैं, इसे परीक्षित को आप पिला दीजिये, परीक्षित अमर हो जायँगे तथा कथामृत हमें दे दीजिये। इसपर श्री शुकदेवजी ने कहा कि—‘क्व कथा क्व सुधा लोके, क्व काचः क्व मणिर्महान्’—कहाँ तो कथा और कहाँ सुधा अर्थात् कथा के सामने सुधा कुछ नहीं। सुधा कथा से उसी प्रकार अतुलनीय है जैसे कि काँच मणि से। इस प्रकार समझकर कहा कि अमृत की आवश्यकता नहीं है हम तो कथामृत ही परिचित को देंगे। इस प्रकार अमृत की अपेक्षा कथामृत ही परीक्षित को दिया, यह एक सिद्धान्त है। इस प्रकार भगवत्कथामृत ही असली सुधा है। भगवत्कथा का महत्त्व लोकोत्तर है, अलौकिक है। उसकी तुलना भी कोई नहीं। इस प्रकार इन भक्तों ने जो मानसामृत का प्रकाशन किया है, उन्होंने मानस की महिमा पढ़ी है, सुनी है, सतसंग भी किये हैं और मानस का महत्त्व ठीक समझा है। इन लोगों की दृष्टि में वही—‘क्व कथा क्व सुधा लोके, क्व काचः क्व मणिर्महान्’। इससे तत्त्वान्वेषी और भगवद्भक्त इसको बहुत महत्त्व देंगे और इसकी रसानुभूति करेंगे। यह कथामृत सर्वकल्याणकारी हो यही इसके प्रति हमारी शुभ कामना है।’

अप्यक्ष पद से बोलते हुए डा० वीरभद्र मिश्र ने कहा :

‘हमें बड़ी प्रसन्नता है कि मानसामृत पत्रिका का आज विमोचन हुआ और प्रथम अङ्क सारे पाठकों के सामने आया। साथ ही यह बड़े हर्ष और सौभाग्य की

बात है कि परमपूज्य स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने इस पत्रिका का उद्घाटन किया है। हमें विश्वास है कि पं० श्री बटुकप्रसाद शर्मा शास्त्री के संपादकत्व में यह पत्रिका मानस की बड़ी-बड़ी गुत्थियों को सुलझ कर सुधी पाठकों के समक्ष रखेगी और तुलसी शोध परिषद् के माध्यम से तुलसी साहित्य और उजागर होगा।

पत्रिका के प्रधान संरक्षक आचार्य श्री पं० विश्वनाथप्रसादजी मिश्र ने अपने संदेश में कहा :

‘तुलसी शोध परिषद् ने जिस ‘मानसामृत’ नामक त्रैमासिक शोध पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया है, उसमें रामचरित मानस का जो तार्त्विक स्वरूप है, उसको पाठकों के सामने लाने का प्रयास किया जायगा। रामचरित मानस का जहाँ तक भक्तिवाला स्वरूप है उसका मूल आधार श्रीमद्भागवत है। श्रीमद्भागवत को महाप्रभु नल्लभाचार्य ने व्यास की समाधि-भाषा कहा है। जिस प्रकार श्रीमद्भागवत समाधि भाषा होने के कारण कठिन ग्रन्थ है और उसके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि ‘विद्यावतां भागवती परीक्षा’, ठीक ऐसी ही स्थिति मेरे विचार से गो० तुलसीदास के रामचरित मानस की भी है। जो तत्त्व समाधि से प्राप्त होता है उसका ठीक-ठीक प्राकृत्य भौतिक शब्दों से हो नहीं पाता इसलिए दिव्य स्तर पर उसकी अभिव्यक्ति करने का प्रयास समाधिस्थ होकर कोई व्यक्ति करता है। अमृत भी वस्तुतः दिव्य स्तर की वस्तु है। किन्तु जैसा रामचरित मानस में कहा गया है कि ‘यों सुलभ सुधा वसुधा हि’ इस मानस के द्वारा दिव्यलोक का अमृत भी भौतिक जगत् को रामचरित मानस द्वारा सुलभ करा दिया गया है।

यद्यपि रामचरित मानस के अध्ययन की परम्परा जिस समय इसका निर्माण हुआ, उसी समय से चली आ रही है। फिर भी समाधि स्थित होकर जो चीज लिखी जाती है, उसका जितना ही विवेचन होता जाता है, सूक्ष्मज्ञा के स्तर उतने ही अधिक उभर कर सामने आते जाते हैं। मेरा विश्वास है कि यदि मानस का विशेष रूप से साहित्यिक दृष्टि से, मन्थन किया जाय तो उसमें बहुत सी ऐसी सम्भावनाएँ हैं जो एक प्रकार से उद्घाटित हो ही नहीं सकी हैं। जैसे उदाहरण के रूप में मानस के द्वितीय सोपान का एक अंश आपके समक्ष कह रहा हूँ। चित्रकूट के सन्दर्भ में कहा गया—‘जहँ सुख सकल सकल दुःख नाही।’ सामान्यतया परम्परा से इसका अर्थ

यह किया गया कि जहाँ सब सुख हैं सब दुःख नहीं। किन्तु यदि बालचाल की भाषा के विचार से इसका चिन्तन किया जाय तो स्पष्ट होता है कि ऐसा कोई नहीं कहता। प्रयः यही कहा जाता है कि यहाँ पर सब प्रकार से सुख है, दुःख एक भी नहीं है या दुःख का लेश भी नहीं है तब इतने बड़े कवि गो० तुलसीदास ने ऐसी बात क्यों लिख दी। वास्तविकता यह है कि साहित्य की दृष्टि इस अंश पर पड़ी ही नहीं। इसलिये इसका उद्घाटन ठीक-ठीक नहीं हो सका सभी यह जानते हैं कि रामचरित मानस जिस भाषा में लिखा गया है उसमें तालव्य 'श' नहीं होता, उसके स्थान पर दन्त 'स' का ही प्रयोग होता है। इस अर्धाली में पहला शब्द 'सकल' तो ठीक है किन्तु दूसरा 'सकल' दन्त 'स' वाला नहीं है संस्कृत की दृष्टि से तालव्य 'श' वाला है—'शकल'। इसका अर्थ होता है टुकड़ा। किसी पिता ने अपने पुत्र को व्याकरण पढ़ना प्रारम्भ किया और उससे कहा 'यद्यपि बहुनाधीशे पठ पुत्र व्याकरणम्' क्योंकि 'सकलः शकलः माभूत्, स्वजनः स्वजनः माभूत्, सकृत् शकृत् माभूत्', यानि कहीं ऐसा न हो जाय कि जहाँ तुम्हें दन्त 'स' वाला 'सकल' लिखना है वहाँ तुम तालव्य 'श' वाला 'शकल' लिख दो। क्योंकि दन्त 'स' वाले 'सकल' का अर्थ होता है पूरा और तालव्य 'श' वाले शकल का अर्थ होता है टुकड़ा, इत्यादि। गो० तुलसीदास तो यहाँ ठीक मुहावरे के अनुसार ही लिख रहे हैं किन्तु उधर दृष्टि साहित्य की न जाने के कारण उसका अर्थ लोगों ने जैसा होना चाहिए नहीं किया और जब दूसरे 'सकल' को 'शकल' मान कर अर्थ किया जाता है तो वाददृष्टि स्पष्ट हो जाती है कि यह चित्रकूट ऐसा है, जहाँ सब प्रकार के सुख तो हैं किन्तु दुःख का टुकड़ा भी नहीं है, दुःख का लेश भी नहीं है।

इसलिये इस प्रकार की पत्रिका की बहुत बड़ी आवश्यकता साहित्यिक विचारधारा के अनुरूप है और यदि इसका प्रश्लेषण किया जायगा तो ऐसी-ऐसी नई बातें लोगों के सामने आयेंगी जिनका कि परम्परा ने कभी विचार ही नहीं किया। मैं शुभ कामना करता हूँ कि यह पत्रिका जिस लक्ष्य को लेकर प्रकाशित की गई है वह पूर्णतया सफल हो और शर्माजी इस क्षेत्र में यश के भागी हों।

—राजेशकुमार शर्मा